विज्ञान, दर्शन और विचारधारा

(संदर्भ : जीव विज्ञान)

विचारधारा एक प्रतीक है जिसे, यह सही है कि, तथाकथित चिन्तक चेतन रूप से संपन्न करता है पर मिथ्या चेतना के साथ। उसे प्रेरित करने वाली असल प्रेरक शक्तियां उसे अज्ञात रहती हैं। अन्यथा यह विचारधारात्मक प्रक्रिया ही न होगी। इसलिए वह झूठी व प्रतीयमान शक्तियों की कल्पना कर लेता है।

-एंगेल्स

जगत की समस्त प्रक्रियाओं, उनकी 'स्वगति', उनके स्वतः स्फूर्त विकास, उनके वास्तविक जीवन के ज्ञान की शर्त है उनका वैपरीत्यों की एकता के रूप में ज्ञान।

-लेनिन

जीवन प्रोटीन कायों के अस्तित्व का तरीका है, जिसका मुख्य तत्व है **बाहरी प्राकृतिक वातावरण से लगातार आदान-प्रदान करने वाला चयापचय,** जिसके बन्द होते ही प्रोटीन का विघटन हो जाता है।

-एंगेल्स

पूरी बीसवीं सदी में जीव विज्ञान, खासकर आनुवंशिक विज्ञान (Genetics) जिस रूप में विकसित हुआ वह दर्शन और विचारधारा के हिसाब से काफी शिक्षाप्रद है। सदी के मध्य में सोवियत संघ में टी डी लीसेंको और उनके सिद्धान्तों का उत्थान और पतन इसमें एक बेहद महत्वपूर्ण चरण है। आज जब सोवियत संघ और उसके समाजवाद के साथ लीसेंको भी इतिहास की वस्तु बन चुके हैं तथा आनुवंशिक विज्ञान भी नया मोड़ ले चुका है तब उनका एक वस्तुगत मूल्यांकन ज्यादा मुमकिन हो गया है। पर उन वजहों से, जो इस लेख के मुख्य सरोकार हैं, साम्राज्यवादी देशों के वैज्ञानिक जगत में यह आज भी मुश्किल बना हुआ है।

इस लेख में हम बीसवीं सदी में आनुवंशिकी के विकास, उसमें आये हालिया मोड़ तथा सदी के मध्य में लीसेंको से संबंधित विवाद पर संक्षेप में नजर डालते हुए आधुनिक जीव विज्ञान के संदर्भ में द्वन्द्ववाद की स्थिति तथा समाज, विज्ञान, दर्शन व विचारधारा के आपसी संबंधों पर बात करेंगे। इन सबका वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के खात्मे और नये समाज की स्थापना के सवाल से सीधा ताल्लुक है।

I
जेनेटिक्स या आनुवंशिकी

आनुवांशिकी और आणविक जीव विज्ञान में एक चीज मूल सिद्धान्त या सेन्ट्रल डोग्मा के नाम से मशहूर है। उसे डी एन ए आर एन ए प्रोटीन सूत्र से अभिव्यक्त किया जाता है। ज्यादा बेहतर रूप में वह इस प्रकार है।

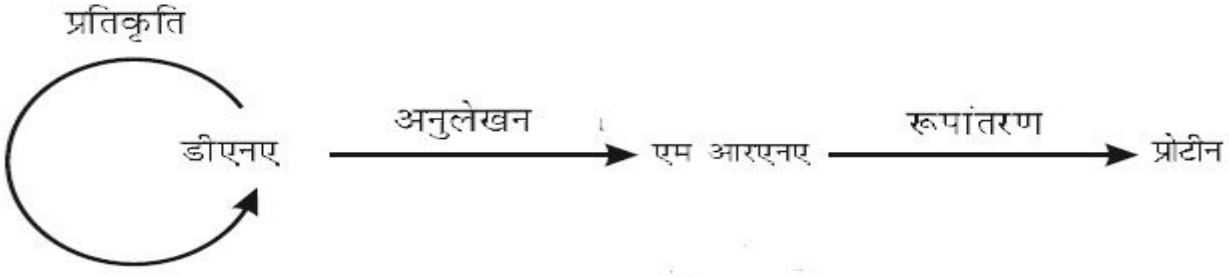

इस सूत्र या मूल सिद्धान्त का मतलब यह है कि डी एन ए अणु से मेसेन्जर या संदेशवाहक आर एन ए अणु का निर्माण होता है (जिसे तकनीकी भाषा में ट्रांसक्रिप्शन या अनुलेखन कहते हैं) तथा फिर संदेशवाहक आर एन ए अणु से प्रोटीन अणु का निर्माण होता है (जिसे तकनीकी भाषा में ट्रान्सलेशन या रूपान्तरण कहते हैं)। इसमें सूचना का प्रवाह एकतरफा होता है यानी डी एन ए से आर एन ए की ओर और फिर आर एन ए से प्रोटीन की ओर। प्रोटीन पलट कर न तो आर एन ए को प्रभावित कर सकता है और न ये दोनों डी एन ए को। जहां तक डी एन ए का सवाल है वह अपनी प्रतिलिपि खुद ही तैयार कर सकता है इसलिए उसे स्व प्रतिकृति

(सेल्फ रिप्लिकेशन) वाला अणु कहते हैं। यह देखते हुए कि सभी जीवों में प्रोटीन प्रमुख संरचनात्मक और कार्यकारी (एन्जाइम या उत्प्रेरक के रूप में) अणु है, प्रोटीन के निर्माण पर डी एन ए अणु का यह नियंत्रण असल में सारे जीवों और जैविक जगत का डी एन ए के निर्णायक निर्धारक होने का प्रमाण है। सामान्य भाषा में डी एन ए या उसका अंश जीन ही जैविक जगत में मुख्य निर्णायक तत्व है।

आगे होने वाली बातचीत को ज्यादा बेहतर ढंग से समझने के लिए उपरोक्त मामले के तकनीकी विस्तार में जाना जरूरी है हालांकि यह बेहद संक्षिप्त और अत्यंत सरलीकृत ही हो सकता है।

डी एन ए का पूरा नाम है डिआक्सीरीबो न्यूक्लिक एसिड। इसी तरह आर एन ए का मतलब है रिबो न्यूक्लिक एसिड। डी एन ए अणु आम तौर पर कोशिकाओं के केन्द्रक में पाया जाता है जबकि आर एन ए केन्द्रक और कोशिका द्रव्य दोनों में। डी एन ए अणुओं की एक ही तरह की संरचना तथा एक ही कार्य है जबकि आर एन ए

चित्र-1

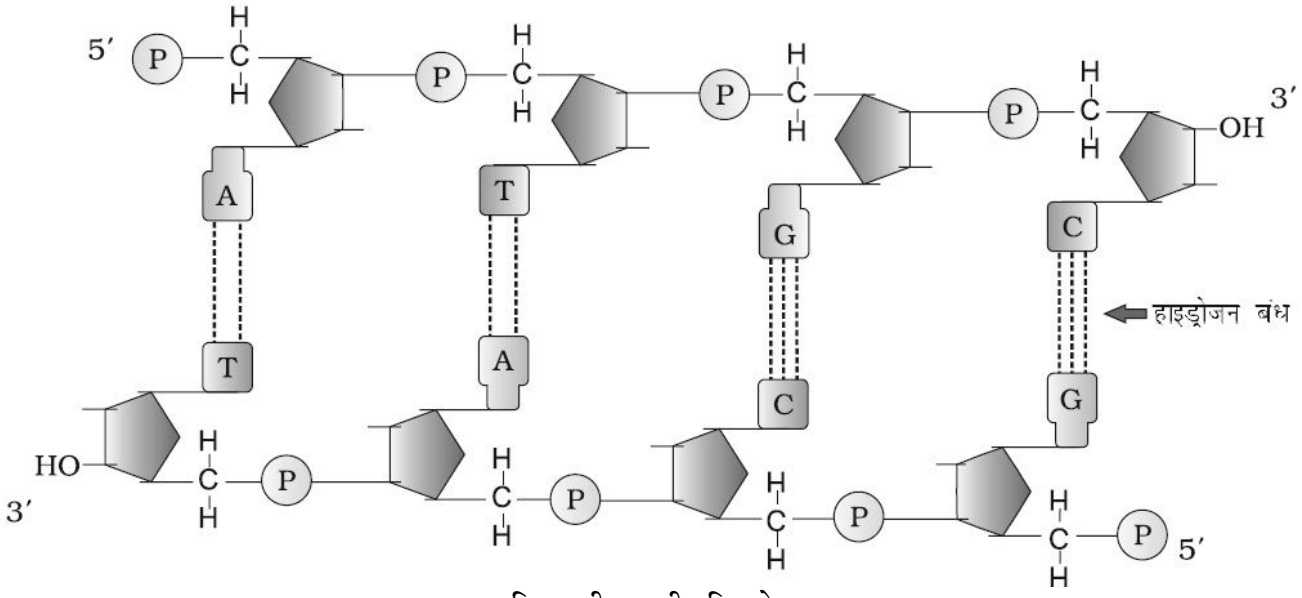

द्विरज्जुकीय पालीन्यूक्लियोटाइड

चित्र-2

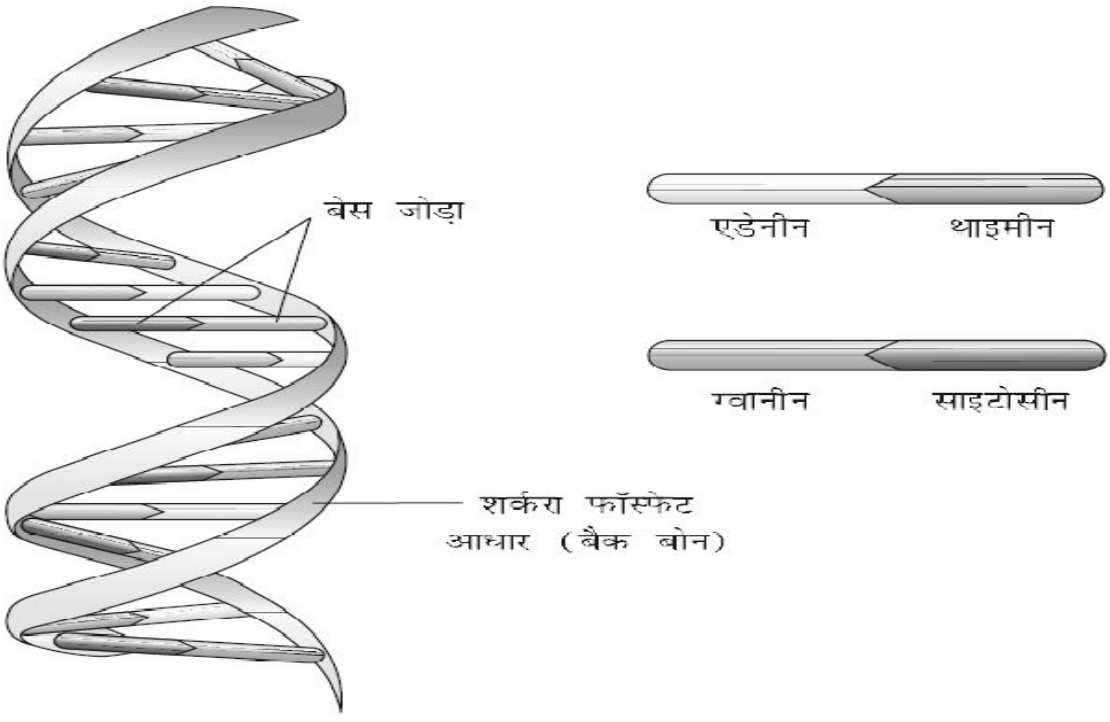

द्विकुंडली डीएनए

(स्रोतः fig-6.3,वही)

अणुओं की संरचना तो एक ही तरह की होती है पर कार्य के हिसाब से उन्हें अलग-अलग नाम दिया गया है। जैसे उपरोक्त सूत्र में आर एन ए को संदेशवाहक कहा जाता है।

डी एन ए और आर एन ए अणुओं की संरचना इस रूप में अपेक्षाकृत सरल है कि वे चार मूल इकाइयों के बार-बार दोहराव से बने होते हैं। इन्हें A (एडिनीन बेस), G (ग्वानिन बेस), C (साइटोसीन बेस), T (थाइमिन बेस) कहते हैं। (असल में प्रत्येक इकाई के तीन हिस्से होते हैं : राइबोस शुगर, फॉस्फेट ग्रुप और नाइट्रोजनी बेस। राइबोस शुगर व फास्फेट ग्रुप सभी में समान होते हैं पर नाइट्रोजनी बेस चारों में अलग-अलग होता है। इसी आधार पर उन्हें A,G,C,T कहते हैं।) आर एन ए में T (थाइमिन बेस) के बदले U (यूरासिल बेस) होता है। डी एन ए की संरचना दोहरी कुंडली (डबल हेलिक्स) की होती है जिसमें AGCT की एक शृंखला कुण्डलीकार रूप में AGCT की दूसरी शृंखला से जुड़ी होती है। असल में A और G के बेस एक तरह के अणु है जिन्हें प्यूराइन कहते हैं और C और T के बेस दूसरी तरह के जिन्हें पिरीमिडीन कहते हैं। दोहरी कुण्डली में हमेशा प्यूराइन के सामने हमेशा पिरीमिडीन होता है यानी A के सामने T और G के सामने C। इसीलिए A को T का पूरक और G को C का पूरक कहते हैं। इससे होता यह है कि एक कुण्डली की संरचना का पता होने पर दूसरी पूरक कुण्डली का स्वतः ही पता चल जाता है। मसलन, यदि एक कुण्डली GTATCGAACCGCTAGG हो तो दूसरी कुण्डली CATAGCTTGGCGATCC होगी। आर एन ए की संरचना में एक तो T के बदले U होता है, दूसरे इसमें AGCU की केवल एक शृंखला होती है। (इसमें शुगर भी डी एन ए के डीआक्सी राइबोस के बदले राइबोस होता है)। यह शृंखला कुण्डलीकार भी नहीं होती बल्कि सामान्य माला की तरह होती है।

डी एन ए अणु की खास संरचना में ही उसका कार्य छिपा हुआ है। चूंकि डी एन ए की एक शृंखला दूसरे की पूरक होती है इसलिए डी एन ए से आर एन ए अणु के निर्माण के लिए बस इतना करना होता है दोनों पूरक शृंखलाएं खुल जायें और एक दूसरे से दूर हो जायें। अब एक शृंखला की पूरक प्रति तैयार हो सकती है। यह आर एन ए अणु की शृंखला होती है। जब समूचे डी एन ए अणु के प्रतिकृति या रिप्लिकेशन का मामला आता है तब होता यह है कि डी एन ए अणु की दोनों कुण्डलित शृंखलाएं आदि से अंत तक खुल जाती हैं और दोनों की पूरक शृंखलाएं तैयार हो जाती हैं। इस तरह एक मूल व एक पूरक शृंखला से नया डी एन ए अणु बन जाता है। चूंकि पूरक शृंखलाएं दोनों मूल शृंखलाओं पर बनती हैं, इसलिए अंततः एक डी एन ए से दो डी एन ए अणु तैयार हो जाते हैं।

अब सवाल यह है कि डी एन ए अणु से प्रोटीन कैसे निर्धारित होता है? इसे समझने के लिए प्रोटीन अणु की संरचना को समझना होगा। डी एन ए व आर एन ए की तरह प्रोटीन अणु भी इकाईयों की एक शृंखला होता है। इन इकाईयों को अमीनो एसिड कहते हैं। प्रोटीन की संरचना में प्रयुक्त कुल अमीनो एसिड की संख्या बीस है। ये ही बीस अमीनो एसिड सभी जीवों में पाये जाते हैं। भांति-भांति के प्रोटीन केवल इस बात पर निर्भर करते हैं कि अमीनो एसिड शृंखला (जिसे तकनीकी तौर पर पाली पेप्टाइड शृंखला कहते हैं) में बीसों अमीनो एसिड में से कौन से अमीनो एसिड कितनी संख्या में और किस क्रम में हैं। प्रकृति में पाये जाने वाले प्रोटीन अणुओं में यह शृंखला दर्जन भर अमीनो एसिड से लेकर हजारों अमीनो एसिड तक हैं। पर प्रोटीन अणु का कार्य केवल शृंखला के क्रम या लम्बाई पर निर्भर नहीं करता। बल्कि होता यह है कि अमीनो एसिड की शृंखला खास तरह से मुड़-मुड़ कर एक त्रिआयामी आकार ग्रहण कर लेती है। किसी खास प्रोटीन का कार्य उसके इस खास त्रिआयामी आकार पर ही निर्भर करता है। यह आकार बदलते या बिगड़ते ही प्रोटीन अणु वह कार्य करना बंद कर देता है इसी से यह भी संभव होता है कि प्रोटीन अणु की एक ही शृंखला कई कार्य कर सके।

अब डी एन ए से प्रोटीन के संबंध को समझा जाये। डी एन ए में **AGCT** की कुल चार इकाईयां या चार अक्षर हैं। इन चार अक्षरों से यदि तीन-तीन अक्षरों के शब्द बनाये जायें तो कुल मिलाकर **64** शब्द बनेंगे मसलन, **AAA, AAG, AAC, AAT, AGA, AGG** इत्यादि। आनुवंशिकी में इन तीन अक्षरी शब्दों को कोडोन कहते हैं जो कूट **(Code)** से बना हुआ है। हर कोडोन असल में प्रोटीन में पाये जाने वाले बीस अमीनो एसिड में से किसी एक अमीनो एसिड का कोड होता है। अब कुल कोडोन हैं **64** जबकि कुल अमीनो एसिड बीस ही हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक अमीनो एसिड के लिए एक से अधिक कोडोन हो सकते हैं जैसे एक व्यक्ति के एक से अधिक नाम हो सकते हैं पर इसका उलटा नहीं होता। यानी एक कोडोन एक से अधिक अमीनो एसिड को नहीं अभिव्यक्त कर सकता। एक व्यक्ति के एक से ज्यादा नाम हो सकते हैं पर कई व्यक्तियों का एक ही नाम नहीं हो सकता। यह व्यवस्था इसलिए है कि एक नाम पुकारने से भ्रम न पैदा हो कि किसे पुकारा जा रहा है। ज्यादा ठीक-ठीक बात करें तो केवल **61** कोडोन ही अमीनो एसिड के कोड होते हैं। शेष तीन **(UGA, UAA, AUG)** स्टॉप कोडोन होते हैं यानी कि इनके आने का मतलब है शृंखला अब खत्म हो रही है। इतना ही नहीं, अमीनो एसिड की हर शृंखला एक ही कोड **(AVG)** से शुरू होती है जिसे स्टार्ट कोडोन कहते हैं। यह असल में मिथियोनीन नामक अमीनो एसिड का कोड है यानी हर शृंखला इस अमीनो एसिड से शुरू होती है। इस कोडोन व्यवस्था की खासियत यह है कि समूचे जैविक जगत में यही व्यवस्था है यानी सारे जीवों में पाये जाने वाले प्रोटीन अणु में **AVG** का मतलब मिथियोनीन होगा। जब भी संदेशवाहक आर एन ए पर **AVG** आयेगा तब इसका मतलब होगा कि अमीनो एसिड शृंखला में मिथियोनीन जुड़ना है।

इस तरह डी एन ए अणु की **AGCT** की शृंखला यह बता देती है कि इसके अनुरूप प्रोटीन अणु में अमीनो एसिड की शृंखला क्या होगी। इसी अर्थ में डी एन ए अणु प्रोटीन की संरचना को निर्धारित करता है।

अब डी एन ए से प्रोटीन बनने की क्रियाविधि पर थोड़ी बात कर ली जाये। डी एन ए अणु बहुत लम्बा होता है। उसके एक छोटे हिस्से को, जिसमें एक प्रोटीन का कोड होता है, जीन कहते हैं। किसी प्रोटीन के निर्माण के समय उसके जीन के स्थान के डी एन

ए अणु की दोनों कुण्डली शृंखलाएं खुलकर अलग-अलग हो जाती हैं। अब एक शृंखला से उसकी पूरक शृंखला तैयार हो जाती है और अलग हो जाती है। फिर डी एन ए की दोनों शृंखलाएं यथावत आपस में जुड़ जाती हैं। नयी तैयार हुई पूरक शृंखला आर एन ए शृंखला होती है जिसमें T की जगह U होता है। इस शृंखला में कांट-छांट होती है और अंत में जो आर एन ए अणु तैयार होता है उसे एम आर एन ए या संदेशवाहक आर एन ए कहते हैं। ये सारी क्रियाएं नाभिक या केन्द्रक में होती है। तैयार एम आर एन ए नाभिक से बाहर कोशिका द्रव्य में आता है और वहां एक खास सांचे से जुड़ जाता है। इस सांचे को राइबोसोम कहते हैं और इसका काम होता है इससे जुड़ने वाले संदेशवाहक आर एन ए में मौजूद कोड के हिसाब से अमीनो एसिड शृंखला का निर्माण। खुद राइबोसोम का निर्माण खास तरह के आर एन ए (राइबोसोमल आर एन ए) तथा प्रोटीनों से होता है। संदेशवाहक आर एन ए राइबोसोम सांचे से जुड़ा होता है। वहां तक उसमें मौजूद किसी खास कोड के हिसाब से किसी खास अमीनो एसिड को खींच कर लाने का काम एक अन्य तरह का आर एन ए अणु करता है। उसे ट्रांसफर या अंतरण आर एन ए कहते हैं। हर अमीनो एसिड के लिए अलग तरह का अंतरण आर एन ए होता है या ज्यादा ठीक कहें तो अलग-अलग तरह के कोडोन के हिसाब से अलग-अलग तरह के अंतरण आर एन ए होते हैं। इनके द्वारा अलग-अलग अमीनो एसिड खींच कर राइबोसोम तक लाये जाते हैं और इन अमीनो एसिड के बीच पेप्टाइड बन्धन के जरिये अमीनो एसिड शृंखला बनती जाती है। अंत में जब स्टाप कोडोन आ जाता है तो यह प्रक्रिया बंद हो जाती है। यदि उसी प्रोटीन अणु की अन्य प्रति की आवश्यकता नहीं होती तो राइबोसोम सांचा बिखर जाता है और स्वयं संदेशवाहक आर एन ए भी अपनी मूल इकाईयों AGCU में बिखर जाता है।

यहां यह रेखांकित करना होगा कि इस समूची क्रियाविधि में हर स्तर पर उत्प्रेरकों की आवश्यकता होती है। ये उत्प्रेरक या तो प्रोटीन अणु होते हैं या प्रोटीन अणु उसके मुख्य घटक होते हैं। यानी डी एन ए की प्रतिलिपि का निर्माण, आर एन ए का निर्माण और स्वयं प्रोटीन का निर्माण बिना प्रोटीन अणुओं के संभव नहीं है।

इस बेहद तकनीकी हिस्से के समापन से पहले ही डी एन ए और जीन के बारे में कुछ और बातें कर लेना अच्छा रहेगा। जीवों में कोशिकाएं मूलभूत तौर पर दो प्रकार की होती हैं: प्रोकैरियोटिक और यूकैरियोटिक। ज्यादा आदिम जीवों की (मसलन बैक्टीरिया की) प्रोकैरियोटिक कोशिकाओं में केन्द्रक नहीं होता। उनमें डी एन ए अणु एक चक्रीय धागे की तरह होता है और एक जगह कोशिका झिल्ली से चिपका होता है। यूकैरियोटिक कोशिकाओं में (सभी बहुकोशिकीय जीवों में इसी तरह की कोशिकाएं होती हैं) एक केन्द्रक पाया जाता है और डी एन ए इसी केन्द्रक में होता है। ज्यादातर जीवों में यह डी एन ए जोड़ों में होता है-लैंगिक प्रजनन करने वाले जीवों में तो निश्चित तौर पर। लैंगिक प्रजनन करने वाले जीवों की बात करें तो जोड़ों में पाये जाने वाले डी एन ए अणुओं में से एक नर जनक से आता है तो दूसरा मादा जनक से। मसलन इंसान में कुल 23 जोड़े डी एन ए अणु हैं। यानी कुल 46। इनमें से तेईस मां से आते हैं तो 23 पिता से। केन्द्रक में ये डी एन ए अणु एक लम्बी शृंखला के रूप में नहीं रहते बल्कि खास तरह के प्रोटीन अणुओं (मुख्यतः हिस्टोन) पर लिपट-लिपट कर ये खास तरह की संरचना बनाते हैं जिसे क्रोमैटिन कहते हैं। डी एन ए अणु की क्रियाविधि में इस संरचना की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक कोशिका से दूसरी कोशिका के बनने की प्रक्रिया में (सारी नयी कोशिकाएं पुरानी मौजूद कोशिकाओं के विभाजन से ही बनती हैं) कोशिका विभाजन के समय ये डी एन ए अणु एक खास संरचना बना लेते हैं जिसे क्रोमोसोम कहते हैं। इस तरह क्रोमैटिन और क्रोमोसोम उसी डी एन ए अणु की खास-खास तरह की संरचनाओं के नाम हैं। जब कहते हैं कि इंसान में तेईस जोड़े क्रोमोसोम पाये जाते हैं तो उसका बस इतना ही आशय होता है। जैसा कि पहले कहा गया है, डी एन ए के एक छोटे हिस्से को, जिसमें किसी प्रोटीन का कोड होता है, जीन कहते हैं। पाया यह गया है कि उच्चतर जीवों के डी एन ए अणुओं में जीन वाले हिस्से अत्यन्त कम हैं, मसलन इंसान में बस दो प्रतिशत। इतना ही नहीं, एक जीन वाले हिस्से में बीच-बीच में बिना प्रोटीन कोड वाले हिस्से होते हैं जिन्हें इंट्रान कहते हैं। इसी के साथ उसमें एक के बदले अलग-अलग जगह कई स्टाप कोडोन हो सकते हैं। इससे एक ही जीन वाले हिस्से से कई प्रोटीन बन सकते हैं, मसलन इंसान में कुल करीब बीस हजार जीन हैं जबकि प्रोटीन की संख्या कुल करीब एक लाख है। (इन एक लाख प्रोटीन शृंखलाओं से त्रिआयामी आकार के चलते कुल करीब दस लाख कार्यकारी प्रोटीन अणु बनते हैं)। डी एन ए अणु में जीन के आस-पास कुछ हिस्से होते हैं जो उस जीन के नियामक की भूमिका निभाते हैं। उनसे या तो जीन नियामक आर एन ए बनते हैं या फिर वहां कुछ अन्य नियामक अणु (प्रोटीन, आर एन ए या मिथाइल/एसीटाइल ग्रुप) जुड़ते हैं। इनसे जीन 'आन' या 'आफ' हो जाता है। अंत में एक आखिरी बात। जब जनन कोशिका से युग्मक या गैमीट का निर्माण होता है (इंसानों में शुक्राणु और अंडाणु) तो जनन कोशिका (जो वृषण या अंडाशय में पाई जाती है) दो बार विभाजित होती है। इस विभाजन को मियासिस या अर्ध सूत्रीय विभाजन कहते हैं। (इसके बदले दैहिक कोशिकाओं में केवल एक बार विभाजन होता है जिसे मिटासिस या समसूत्री विभाजन कहते हैं।) मियासिस के एक खास चरण में दोनों जोड़े क्रोमोसोम जगह-जगह आपस में जुड़ जाते हैं। इसे 'चियास्माटा फार्मेशन' कहते हैं। जब ये क्रोमोसोम अलग होते हैं तो जुड़ने वाले स्थल पर मौजूद जीन का आदान-प्रदान हो जाता है। यानी नर क्रोमोसोम के जीन मादा क्रोमोसोम पर चले जाते हैं और मादा क्रोमोसोम के जीन नर क्रोमोसोम पर (यहां नर या मादा क्रोमोसोम का मतलब जनक से आने वाले क्रोमोसोम से है)। इस तरह जीन के आदान-प्रदान को रिकांबिनेशन या पुनर्योजन कहते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, आनुवंशिकी में जीन पुनर्योजन का खास महत्व है।

क्रोमोसोम, जीन, डी एन ए, आर एन ए और प्रोटीन के बारे में ये सारी जानकारी और समझदारी उन्नीसवीं सदी के अंत से 1960 के दशक तक हासिल हुई। यही समय आनुवंशिकी के ज्यादा व्यापक स्तर पर विकास का भी समय था।

जैव विकास का पहला सुसंगत वैज्ञानिक सिद्धान्त फ्रांसीसी प्रकृतिविद लामार्क ने उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में प्रस्तुत किया था। उनका मूल सिद्धान्त यह था कि पदार्थ में मौजूद भौतिक और रासायनिक शक्तियों के कारण ही स्वतः सरल जीवों से जटिल जीवों का, निम्नतर जीवों से उच्चतर जीवों का विकास होता है। यह बार-बार हो सकता है। यह काफी जटिल सिद्धान्त था, खासकर इसलिए कि लामार्क आज मान्य रासायनिक तत्वों के बदले परंपरागत तत्वों (पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि) को मानते थे। उन्होंने लैवाशिये द्वारा खोजे गये आक्सीजन के तत्व को मानने से इंकार कर दिया था। पर लामार्क के जैव विकास के सिद्धान्त में इस मूल सिद्धान्त के साथ एक सहायक सिद्धान्त भी था। यह था जीवों द्वारा अपने जीवन काल में हासिल विशेषताओं की वंशागति के जरिये नयी प्रजातियों के विकास का सिद्धान्त। कोई जीव अपने जीवन काल में अपने अंगों का उपयोग या अनुपयोग करता है। जिन अंगों का उपयोग होता है वे विकसित होते जाते हैं जबकि जिनका अनुपयोग होता है उनका ह्रास होता जाता है। अगली पीढ़ी में यह विकास या ह्रास स्थानांतरित हो जाता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंशागति के जरिये नयी प्रजाति अस्तित्व में आ जाती है। इसे बाद में 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' का सिद्धान्त कहा गया। बाद के समय में यह सिद्धान्त काफी विवाद का विषय बना और लामार्क मूलतः इसी सिद्धान्त के लिए जाने गये। यहां यह रेखांकित करना होगा कि यह लामार्क का प्रमुख सिद्धान्त नहीं था। दूसरी ओर यह उनके जमाने में भी आम प्रचलित सिद्धान्त था। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, लामार्क बाद में अपने प्रमुख सिद्धान्त के लिए नहीं, बल्कि इसके लिए जाने गये। उनके नाम के साथ यह सिद्धान्त इस हद तक जुड़ गया कि भूगर्भ विज्ञान को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाली अपने प्रसिद्ध किताब 'भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्त' के दूसरे खंड का एक बड़ा हिस्सा चार्ल्स लाइल ने इस सिद्धान्त के खंडन को समर्पित किया। चार्ल्स लाइल बहुत बाद में ही जाकर अपने शिष्य और मित्र डार्विन के महती प्रयासों के चलते जैव विकास के तथ्य को स्वीकार कर सके।

जैव विकास के तथ्य को व्यापक स्तर पर वैज्ञानिक जगत में स्थापित करने का श्रेय चार्ल्स डार्विन को जाता है। उनकी पुस्तक 'प्रजातियों की उत्पत्ति' ने इसमें महती भूमिका निभाई। डार्विन ने कहा कि किसी प्रजाति के विभिन्न जीवों में विविधता होती है और प्रकृति में मौजूद संसाधनों की सीमितता के चलते इनका आपस में संघर्ष होता है। इस संघर्ष में जो जीव ज्यादा सफल होते हैं वे अगली पीढ़ी में अपनी ज्यादा संततियां पहुंचाने में कामयाब हो जाते हैं। उनकी सफलता जिस विविधता पर निर्भर होती है वह अगली पीढ़ी में वंशागत हो जाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह होता रहता है और अंततः एक नयी प्रजाति अस्तित्व में आ जाती है। यहां यह याद रखना होगा कि संसाधनों की सीमितता और अस्तित्व के लिए संघर्ष का सिद्धान्त डार्विन ने माल्थस के जनसंख्या के प्रसिद्ध सिद्धान्त से लिया था। वैसे भी अस्तित्व के लिए संघर्ष और सर्वोत्तम की उत्तर जीविता का सिद्धान्त उस जमाने में प्रचलित आम बुर्जुआ सिद्धान्त था।

डार्विन के सिद्धान्त की कुछ खासियतें थीं। इसमें किसी प्रजाति के जीवों में पायी जाने वाली विविधता को बहुत छोटा होना था और साथ ही पैदाइशी भी जिससे वह अगली पीढ़ी में वंशागत हो सके। जीवन के संघर्ष में सबसे अनुकूल विविधता का प्राकृतिक वरण हो जाता है और उसका अगली पीढ़ी में स्थानान्तरण हो जाता है। प्राकृतिक वरण मुख्य शक्ति था जिससे नयी प्रजाति अस्तित्व में आ जाती थी और इसका मैकेनिज्म था जीवों में विविधता और उनकी वंशागति तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष। यह आश्चर्य नहीं कि उनकी पुस्तक का पूरा शीर्षक था- 'प्राकृतिक वरण के जरिये प्रजातियों की उत्पत्ति'।

यहां यह याद रखना होगा कि प्राकृतिक वरण को प्रजातियों की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका प्रदान करने के बावजूद डार्विन ने उपयोग और अनुपयोग की भूमिका को नकारा नहीं। उनकी 'प्रजातियों की उत्पत्ति' किताब के अगले संस्करणों में उपयोग और अनुपयोग की भूमिका क्रमशः बढ़ती गई।

डार्विन ने 1859 में प्रकाशित अपनी किताब 'प्रजातियों की उत्पत्ति' में प्रजातियों की उत्पत्ति की बात तो की पर न तो स्वयं जीवन की उत्पत्ति का सवाल उठाया और न ही मानव की उत्पत्ति का। बाद में उन्होंने जीवन की उत्पत्ति के सवाल को भगवान भरोसे छोड़ दिया जबकि मानव की उत्पत्ति को उसी तरह से समझाने का प्रयास किया जैसा किसी अन्य प्रजाति की उत्पत्ति को। इसके लिए उन्होंने एक मोटी किताब लिखी 'मानव का अवतरण और लैंगिक संबंध में वरण'। इसमें उन्होंने मानव के जैविक विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास को भी समझाने का प्रयास किया।

विविधता के प्राकृतिक वरण की वंशागति (heredity) डार्विन के सिद्धान्त के मूल में थी पर वंशागति का मेकेनिज्म क्या है, इसे उन्होंने अनकहा छोड़ दिया। बाद में उन्होंने अपना 'पेनजेनसिस' का सिद्धान्त दिया जिसके अनुसार जनकों के अंगों में हर कोशिका में उसके सूक्ष्म रूप (जेम्यूल) पैदा होते हैं। वे खून के जरिये जनन कोशिकाओं में पहुंचते हैं और इकट्ठे हो जाते हैं। फिर वे शुक्राणु और अंडाणु के माध्यम से नयी संतति में पहुंचते हैं। वहां उनके सम्मिलन और विकास से भ्रूण पैदा होता है।

'प्रजातियों की उत्पत्ति' के प्रकाशन के बाद जैव विकास ने तो वैज्ञानिक जगत में मान्यता प्राप्त कर ली पर जैव विकास के डार्विन के विविधता और प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त को उस तरह मान्यता नहीं मिली। यहां तक कि अर्न्स्ट हेकेल जैसे खुद को दृढ़ डार्विनवादी घोषित करने वाले लोग भी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे। लामार्क का 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' का सिद्धान्त वैज्ञानिकों में पर्याप्त मात्रा में लोकप्रिय था। इसके अलावा वैज्ञानिक अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तावित कर रहे थे।

डार्विन के सिद्धान्त की दो दिक्कतें प्रमुख थीं। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि डार्विन के विविधता व प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त इस नतीजे पर पहुंचाते हैं कि नयी प्रजाति की उत्पत्ति पुरानी प्रजाति को खत्म कर ही हो सकती है और नयी प्रजाति में भी केवल एक अकेला जीव बचेगा। इस तरह वंशक्रम में भांति-भांति की प्रजातियों की मौजूदगी की व्याख्या नहीं हो सकती। दूसरे यह कि विविधता लैंगिक प्रजनन के कारण जल्दी ही समाप्त हो जायेगी क्योंकि नर और मादा में विविधता अलग-अलग होती और संतति में औसत विविधता वंशागत होगी। आनुवंशिकी में आगे विकास इन सवालों से जूझने से हुआ।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में जर्मन वैज्ञानिक अगस्त विजमान ने आनुवंशिकता का एक सिद्धान्त प्रस्तावित किया जिसे 'जनन प्लाज्मा सिद्धान्त' कहा गया। इसके अनुसार जनन कोशिकाएं और दैहिक कोशिकाएं बिलकुल अलग-अलग होती हैं। जनन कोशिका से किसी जीव के विकास में बिलकुल शुरू में ही अगली पीढ़ी के लिए जनन कोशिका अलग हो जाती है। बाकी जनन कोशिकाओं से दैहिक कोशिकाओं और समूचे जीव का विकास होता है। जनन कोशिका जीव में रहते हुए भी उससे स्वतंत्र रहती है। उसका काम है अगली पीढ़ी के लिए युग्मक (शुक्राणु या अंडाणु) का निर्माण करना। इस तरह जनन कोशिका अगली पीढ़ी की जनन कोशिका को जन्म देती है, बिना दैहिक कोशिकाओं से प्रभावित हुए। इस मायने में यह निरंतर और अमर है। जहां तक जीव में भांति-भांति की दैहिक कोशिकाओं और अंगों के विकास का सवाल है उन सबका आधार जनन कोशिका के प्लाज्मा में मौजूद कणों में होता है। अलग-अलग दैहिक कोशिकाओं में अलग-अलग कण पहुंचते हैं और इस तरह अलग-अलग तरह की कोशिकाओं का विकास करते हैं।

अगस्त विजमान के 'जनन प्लाज्मा सिद्धान्त' ने आनुवंशिकी की समस्या को तो हल करने का प्रयास किया पर उसने जैव विकास के लिए उलझन का ही काम किया। एक निरंतर और अमर जनन कोशिका के रहते नयी प्रजाति कैसे अस्तित्व में आ सकती है?

नयी सदी की शुरुआत से ही आनुवंशिकी ने एक नयी दिशा ग्रहण की जिसमें विजमान के निरंतर आनुवंशिक पदार्थ के सिद्धान्त का बड़ा महत्व था। सन् 1900 में जार्ज ग्रिगोर मेंडेल के उन प्रयोगात्मक निष्कर्षों की फिर खोज हुई जो उन्होंने 1860 के दशक में मटर के पौधे पर प्रयोग से निकाले थे। इन खोजकर्ताओं में ह्यूगो डी ब्रिज प्रमुख थे जो स्वयं को दृढ़ डार्विनवादी घोषित करते हुए भी सूक्ष्म विविधता और प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। मेंडेल के प्रयोगों ने दिखाया था कि वंशागति के कारण निरंतर नहीं बल्कि विविक्त (अलग-अलग) हैं ओर वे अलग-अलग ही अगली पीढ़ी में जाते हैं। मसलन मटर के पौधे में लम्बाई, फूल के रंग, बीजों के आकार इत्यादि के अलग-अलग वंशागत कारक हैं। नर और मादा पौधे में ये कारक प्रभावी या अप्रभावी दोनों रूप में मौजूद होते हैं। किसी जीव में प्रभावी कारक ही प्रकट या व्यक्त होता है जबकि अप्रभावी छिपा रहता है। उदाहरण के लिए फूलों के रंग में पीला प्रभावी है जबकि सफेद अप्रभावी। यदि नर व मादा पौधे पीले रंग के हों तो संतति का फूल पीला होगा। दोनों में से एक पीला व एक सफेद होने पर संतति का फूल पीला ही होगा। पर यदि दोनों सफेद फूलों वाले हों तो संतति का फूल सफेद होगा। प्रभावी व अप्रभावी दोनों कारकों को तकनीकी भाषा में अलील कहते हैं-प्रभावी अलील व अप्रभावी अलील। आज यह स्पष्ट है कि अलील और कुछ नहीं नर व मादा जनक से प्राप्त क्रोमोसोम पर एक ही स्थान पर मौजूद एक ही जीन के दो प्रकार हैं जिनसे एक जैसे लेकिन थोड़े से भिन्न प्रोटीन का निर्माण होता है। ह्यूगो डी ब्रिज ने प्रस्तावित किया कि आनुवंशिकी के कारकों में किन्हीं कारणों से बड़ा परिवर्तन-उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) हो जाता है। ये बड़े परिवर्तन तत्काल ही जीव में किसी वड़ी विशेषता को जन्म देते हैं। यदि बड़े परिवर्तनों वाला यह जीव बच जाता है और संतति पैदा करने में कामयाब हो जाता है तो एक झटके से इसके द्वारा एक नयी प्रजाति अस्तित्व में आ जाती है। डार्विन के सूक्ष्मस्तर की विविधता व प्राकृतिक वरण के जरिये क्रमशः एक लम्बे समय में प्रजाति के पैदा होने के ठीक विपरीत यह सिद्धान्त तुरंत छलांग के जरिये प्रजाति के पैदा होने की बात करता था।

इसके कुछ समय बाद टी एच मार्गन ने क्रोमोसोम, जीन और मेंडेल के कारकों का संबंध प्रस्तावित किया। कोशिकाओं के केन्द्रक में क्रोमोसोम की खोज उन्नीसवीं सदी के अंत में हो चुकी थी और वैज्ञानिकों को इसका भान था कि इसका आनुवंशिकी से कुछ न कुछ संबंध है। तब तक इसे एक जटिल प्रोटीन अणु ही माना जाता था या प्रोटीन से बना हुआ (इसमें ज्यादा गलती नहीं थी क्योंकि क्रोमोसोम या क्रौमैटिन की संरचना में प्रोटीन अहम हिस्सा होते हैं)। मार्गन के समय तक किसी विशेषता (ट्रेट) को निर्धारित करने वाले मेंडेल के कारकों को जीन का नाम दे दिया गया था। अब मार्गन ने प्रस्तावित किया कि जीन क्रोमोसोम पर माला के मनकों की तरह मौजूद होते हैं। अगली पीढ़ी में क्रोमोसोम जनन कोशिका के माध्यम से स्थानांतरित होते जाते हैं ओर उनके साथ उन पर मौजूद जीन भी। आम तौर पर एक क्रोमोसोम पर मौजूद जीन एक साथ स्थानांतरित होते हैं पर इनमें पुनर्योजन के जरिये बदलाव भी हो जाता है। तब क्रोमोसोम पर जीन का नया संयोजन आ जाता है। इसी से अगली पीढ़ी में ढेर सारी विविधता आ जाती है और संततियां अपने जनकों से ही नहीं, आपस में भी अलग-अलग होती हैं। विविधता एक और वजह से भी पैदा होती है-उत्परिवर्तन से। जीन में परिवर्तन हो जाता है और वह नयी विशेषता को जन्म देता है।

अब मार्गन के इस प्रस्ताव के बाद डार्विन के विविधता और प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त को नये आधार पर खड़ा करने की संभावना पैदा हो गई। डार्विन के सिद्धान्त ने नव-डार्विनवाद का रूप लेना शुरू कर दिया जिसके मुकम्मल होने के बाद उसे 'आधुनिक संश्लेषण' कहा गया। यह डार्विन के विविधता व प्राकृतिक वरण के सिद्धान्त का क्रोमोसोम व जीन वाली आनुवंशिकी के साथ संश्लेषण था। यह संश्लेषण 1930 के दशक में सम्पन्न हुआ जिसमें फिशर, हाल्डेन और राइट ने प्रमुख योगदान किया। इस संश्लेषण का रूप सांख्यिकी गणितीय था जिसके द्वारा दिखाया गया कि जीन में छोटा उत्परिवर्तन और उससे पैदा छोटी विविधता भी समय के साथ बड़े परिणामों तक ले जाती है यानी नयी प्रजाति अस्तित्व में आ जाती है। इसके लिए ह्यूगो डी ब्रिज के बड़े उत्परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। अब डार्विन द्वारा प्रस्तावित जीवों में विविधता और उसकी वंशागति तथा प्राकृतिक वरण के जरिये नयी प्रजातियों की उत्पत्ति को आनुवंशिकी का ठोस आधार मिल गया।

[आनुवंशिकी में जैव विकास का जो सिद्धान्त अंततः स्थापित हुआ वह किसी व्यक्तिगत जीव में मौजूद जीन पर आधारित नहीं था बल्कि किसी प्रजाति के सभी जीवों में मौजूद कुल जीन (जीन पूल या जीन समुच्चय) की बात करता था। इसमें जीन के सभी अलील आते थे। माना गया कि किसी स्थाई प्रजाति में जीन पूल संतुलन की अवस्था में होता है। लेकिन विभिन्न कारणों से यह संतुलन बिगड़

सकता है। यह जीन प्रवाह, जीन अपवाह, जीन पुनर्योजन, जीन उत्परिवर्तन और प्राकृतिक वरण से हो सकता है। जीन प्रवाह का मतलब है किसी प्रजाति के कुछ जीवों का अलग हो जाना या दो समूहों का आपस में मिल जाना। जीन अपवाह का मतलब है जीन पूल में सांयोगिक परिवर्तन। शेष स्पष्ट हैं। जीन पूल में इन परिवर्तनों का यह परिणाम हो सकता है कि ये परिवर्तन एक दिशा में होते हुए एक नया संतुलन स्थापित कर दें। यदि नये जीन पूल के जीव पुराने जीन पूल के जीवों से लैंगिक प्रजनन नहीं कर सकते तो इसका मतलब यह हुआ कि दोनों समूहों के बीच प्रजनन बाधा पैदा हो गई है। इस तरह दो प्रजातियां अस्तित्व में आ गई हैं- एक पुरानी और दूसरी नयी। स्पष्ट है कि जीन पूल में परिवर्तन के जरिये नयी प्रजाति के अस्तित्व में आने का यह माडल एकदम गणितीय है। इसमें जीनोटाइप और फीनोटाइप के बीच संबंध एक दम औपचारिक हैं इस अर्थ में कि यह मान लिया जाता है कि एक खास जीनोटाइप एक खास फीनोटाइप पैदा करता है। इसमें फीनोटाइप को कोई महत्व है तो बस इतना कि वह जीनोटाइप को चिह्नित करने में और जीनोटाइप के प्राकृतिक वरण में मदद करता है। (जीनोटाइप का मतलब है जीन के स्तर पर संरचना तथा फीनोटाइप का मतलब है तदनुरूप लक्षण)]

इस काल में न केवल आनुवंशिकी के सिद्धान्त प्रस्तावित किये गये और उसके लिए गणितीय माडल और सूत्र विकसित किये गये बल्कि विभिन्न जीवों पर प्रयोग से उन्हें पुख्ता भी किया गया। खासकर फल मक्खी ड्रोसोफिला मेलनोगैस्टर पर प्रयोगों ने काफी मदद की।

लेकिन इस सारी प्रगति के बावजूद अभी यह स्पष्ट नहीं था कि क्रोमोसोम और जीन की वास्तविक रासायनिक और आणविक संरचना क्या है और यह कैसे जीव की विशेषताओं को निर्धारित करता है। इसमें भी समय के साथ सफलता मिली। यह पता चला कि क्रोमोसोम एक खास तरह का एसिड या अम्ल है, प्रोटीन नहीं। फिर इसकी दोहरी कुण्डली वाली आणविक संरचना का पता चला। इसके बाद इसकी कोडोन व्यवस्था तथा प्रोटीन निर्माण के साथ इसके संबंध का पता चला। 1960 के दशक तक आणविक स्तर पर मूल प्रक्रिया का पता चल चुका था-उसी का जिसका यहां शुरू में वर्णन किया गया है।

आनुवंशिक विज्ञान और आणविक विज्ञान की इस सफलता के साथ आधुनिक संश्लेषण भी अत्यन्त कठोर हो गया। उसमें 1930 के दशक तक मौजूद लचीलापन खत्म हो गया। इस कठोर आधुनिक संश्लेषण को अमूर्त रूप में आणविक विज्ञान के मूल सिद्धान्त ने व्यक्त किया। इसे शब्दों में इस तरह व्यक्त किया जा सकता है :

आनुवंशिकता का आधार क्रोमोसोम पर पाये जाने वाले जीन होते हैं जो प्रोटीन का निर्धारण करते हैं। क्रोमोसोम का अणु डी एन ए, जो कि स्व प्रतिकृति की क्षमता से सम्पन्न है, सभी जीवों का नियंत्रक है। जीवन का मतलब पीढ़ी दर पीढ़ी जीनों के समुच्चय (जीनोम) का स्थानांतरण भर है। जीन या जीनोम स्वयं जीव के जीवन से प्रभावित नहीं होते उनमें कोई भी परिवर्तन यादृच्छिक या सांयोगिक होता है जो बाहरी तत्वों (एक्स-रे, रेडियोएक्टिव किरणों, किसी खास रसायन इत्यादि) के प्रभाव, पुनर्योजन या फिर डी एन ए की स्वप्रतिकृति के समय किसी गलती के जरिये ही हो सकता है। ये सांयोगिक परिवर्तन यदि जीव के लिए फायदेमंद हुए तो प्राकृतिक वरण के जरिये ये धीमे-धीमे नयी प्रजाति को जन्म दे देते हैं। प्राकृतिक वरण जीन के स्तर पर ही सम्पन्न होता है-एक जीन के मुकाबले दूसरे जीन का प्राकृतिक चयन हाता है। फीनोटाइप (जीव के स्तर की विशेषताएं) तो वह क्षणिक अभिव्यक्ति मात्र है जिससे जीनोटाइप का चुनाव होता है। जीनोटाइप ही सब कुछ है, फीनोटाइप कुछ भी नहीं।

आनुवंशिकी के इस तरह के विकास ने बहुत सारे लोगों को असहज किया। डार्विनवाद का जिस रूप में 'आधुनिक संश्लेषण' में विकास हुआ वह भी बहुत सारे लोगों के लिए सवाल पैदा करता था। इस आनुवंशिकी की दो मूलभूत दिक्कतें थीं। एक तो यह हर चीज को जीन तक सीमित करती थी। दूसरे यह जीन को जीव से एकदम स्वतंत्र कर देती थी।

जीन अपचयनवाद जीवों को, उनकी सारी विशेषताओं को, प्रजातियों को, उनकी उत्पत्ति और विनाश को यानी हर चीज को जीन से व्याख्यायित करने की कोशिश करता था। जीव की हर विशेषता (ट्रेट) का कोई न कोई जीन आधार था और उसमें कोई भी परिवर्तन केवल जीन में परिवर्तन के जरिये ही हो सकता था। यह माना जाता था कि कोई भी जीव अपने वातावरण और जीन दोनों का परिणाम होता था पर यह इसी रूप में कि 'वातावरण प्रस्तावित करता है' और 'जीन तय करता है'। यानी निर्णायक जीन ही है। इस तरह यह साथ ही जीन नियतत्वाद भी था।

इसी के साथ यह भी माना जाता था कि जीन जीव से बिलकुल स्वतंत्र था। यह विजमान के स्वतंत्र 'जनन प्लाज्मा' का ही दूसरा रूप था। यह युग्मज (जाइगोट) से भ्रूण और पूरे जीव का विकास तथा उसका पूरा जीवनकाल जीनोम को अछूता छोड़ देता था। भ्रूण का विकास चाहे जिस रूप में होता हो, एक युग्मज कोशिका चाहे जैसे विभेदित होकर भांति-भांति की कोशिकाओं में रूपान्तरित हो जाती हो, इसका जीनोम पर कोई असर नहीं होता था। यह कोई आश्चर्य नहीं कि बीसवीं सदी में आनुवंशिकी के इस विकास के साथ भ्रूण विज्ञान का कोई संबंध नहीं था। भ्रूण विज्ञान एकदम अलग विकास कर रहा था। यह अजीबोगरीब लेकिन सच था कि जीनोटाइप से फीनोटाइप में विकास का मूलभूत चरण यानी भ्रूण का विकास आनुवंशिकी के लिए कोई दिलचस्पी की चीज नहीं था। आनुवंशिकी एकदम औपचारिक, अमूर्त और गणितीय थी। ठोस प्रयोग भी उसके इस औपचारिक रूप पर कोई असर नहीं डालते थे।

आनुवंशिक विज्ञान ने खास तरह के जीवों को अपने प्रयोगात्मक माडल के तौर पर इस्तेमाल किया था। बैक्टिीरिया ई कोलाई, नीमाटोड कृमि सी एलीगेन्स, फल मक्खी ड्रोसोफिला मेलानोगैस्टर इत्यादि इनमें प्रमुख थे। जैसा कि बाद में पता चला इन जीवों की खास जेनेटिक संरचनाएं थी जो एक ओर तो जेनेटिक प्रयोगों के लिए इन्हें बहुत उपयुक्त बना देती थीं पर दूसरी ओर इनसे निकलने वाले निष्कर्षों से आम सैद्धान्तीकरण समस्याएं पैदा कर रहा था। इसकी शुरुआत मेन्डेल के मटर के जमाने से पैदा हो गई थी। जब मेन्डेल ने मटर पर अपने प्रयोगों के निष्कर्ष एक प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री को भेजे तो उसने उन्हें एक अन्य पौधे पर प्रयोग करने की सलाह

दी। मेंडल ने सलाह मानकर प्रयोग शुरू कर दिया पर किसी नतीजे तक नहीं पहुंच सके क्योंकि उस पौधे में जीनोटाइप और फीनोटाइप का मटर की तरह सीधा समीकरण नहीं था।

जैसा कि पहले कहा गया है, डार्विन के प्रयासों से जैव विकास का सिद्धान्त वैज्ञानिकों में स्थापित हो जाने के बावजूद उनका विविधता और प्राकृतिक वरण का सिद्धान्त आम तौर पर स्वीकार नहीं था। बहुत सारे वैज्ञानिक लामार्क के 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे तो ह्यूगो डी ब्रिज जैसे वैज्ञानिक बड़े उत्परिवर्तन के सिद्धान्त को जो एक झटके से नयी प्रजाति पैदा कर देता है। इसी तरह जहां डार्विन ने जीव के स्तर को प्राकृतिक वरण का स्तर माना था (यानी जीव विविध होते हैं और ज्यादा अनुकूल जीव का वरण होता है जो ज्यादा अनुकूल विशेषताओं वाला होता है) वहीं अन्य ने वरण के अन्य स्तर भी माने। उदाहरण के लिए विजमान 'जनन प्लाज्म' के स्तर को भी वरण का स्तर मानते थे, साथ ही प्रजाति के स्तर को भी। यानी पूरी प्रजाति एक समूह के तौर पर कम या ज्यादा अनुकूल होती है।

आधुनिक संश्लेषण के स्थापित होने के साथ ये सारे विचार किनारे लगने लगे हालांकि खत्म नहीं हुए। 1940 के दशक तक लामार्क का सिद्धान्त वैज्ञानिकों में आम चलन में था।

बीसवीं सदी में आनुवंशिकी का जिस रूप में विकास हुआ उसने समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों और विचारों को काफी बल प्रदान किया। इन्होंने इसका इस्तेमाल भी किया। इसकी चरम परिणति नाजी जर्मनी द्वारा मानव संवर्धन (यूजेनिक्स) के प्रयोगों में हुई।

1910 के दशक से ही यह बात होने लगी थी कि यदि जीव का निर्धारण जीन से होता है और जीन को बाहर से प्रभावित नहीं किया जा सकता तो इसका मतलब है कि सफल, सक्षम और अच्छे लोग अपने जीन के कारण हैं तथा असफल, अक्षम और बुरे लोग (खासकर अपराधी) अपने जीन के कारण। ऐसे में पूरे समाज को बेहतर बनाने का एक ही तरीका है-खराब जीन वालों को संतति पैदा करने से रोकना। नाजी जर्मनी में इसे और आगे ले जाया गया। वहां खराब जीन वालों को न केवल संतति पैदा करने से रोका गया बल्कि उन्हे सीधे-सीधे मार डाला गया।

पूंजीवादी समाजों में सफल, सक्षम और अच्छे लोगों की अपनी-अपनी परिभाषाएं थीं जो मूलत: वर्गीय दृष्टिकोण से तय हो रही थीं पर जिसमें नस्ली, लैगिक और अन्य पूर्वाग्रह भी शामिल थे। मसलन स्त्रियों और अश्वेत लोगों को अमेरिका में निम्नतर स्तर का माना जाता था। जर्मनी में यहूदियों को निम्न माना जाता था। सभी पूंजीवादी समाजों में मजदूर वर्ग को निम्नतर स्तर का माना जाता था। इसी तरह समलैंगिकों को भी खराब जीन वाला माना जाता था। अपराधी तो खैर खराब जीन वाले थे ही। इन अपराधियों में सारी वेश्यायें शामिल थीं।

जीव वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों से लेकर राजनीतिज्ञों तक में जीन नियंत्रित मानव और मानव संवर्धन का विचार इतना प्रचलित हो गया कि स्वयं मार्क्सवादी कहने वाले या मानने वाले लोग भी इससे नहीं बच सके। कुछ सोवियत वैज्ञानिकों ने भी इसकी वकालत की। 1930 के दशक में सोवियत संघ के समर्थक और स्वयं को मार्क्सवादी मानने वाले प्रसिद्ध जीन वैज्ञानिक हरमन मुलर (जो पहली बार ड्रोसोफिला के कुछ नमूने अमेरिका से सोवियत संघ में ले आये थे) ने तो स्टालिन को पत्र लिखकर मांग ही की थी कि सोवियत संघ को बुद्धिजीवियों और कुछ विशेष प्रतिभासम्पन्न मजदूरों से ही प्रजनन करवा कर एक ऐसी पीढ़ी तैयार करनी चाहिए जो आसानी से पूंजीवादी दुनिया को हर मायने में पछाड़ देगी। हमारे राहुल सांकृत्यायन ने जब 1934 में 'साम्यवाद ही क्यों' लिखा तो उसमें एक अध्याय 'साम्यवाद और अच्छी संतान' का शामिल किया। यह और कुछ नही, उस जमाने में खूब प्रचलित जीन नियंत्रित मानव और मानव संवंर्धन के विचारों का ही प्रभाव था।

मामला केवल बातों-विचारों तक सीमित नहीं रहा। नाजी जर्मनी ने तो बेहद घृणित स्तर पर जाकर इस दिशा में प्रयोग किये ही, अन्य पूंजीवादी देशों में भी इन्हें व्यवहार में लाया गया। सं. रा. अमेरिका में इस संबंध में बाकायदा कानून बनाये गये और अपराधी माने गये लोगों में से कुछ को जबर्दस्ती प्रजनन क्षमता से वंचित किया गया। 1920 के दशक में तो एक मां-बेटी का मामला खास तौर पर चर्चित हुआ जिसमें छोटी बच्ची को भी कैद कर बाद में उसे प्रजनन क्षमता से वंचित कर दिया गया। अमेरिका में यह सब तब हो रहा था जब वहां कई प्रदेशों के विद्यालयों में डार्विन के विकासवाद को पढ़ाने को प्रतिबंधित किया जा रहा था। उसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के वैज्ञानिक पहलू को वहां प्रतिबंधित किया जा रहा था पर दूसरी ओर उसके प्रतिक्रियावादी पहलू को न केवल प्रचारित किया जा रहा था बल्कि उस पर अमल किया जा रहा था।

यह स्वाभाविक था कि नये आनुवंशिक विज्ञान के इस प्रतिक्रियावादी पहलू का प्रतिक्रियावादी व्यवस्था परस्त उस कम्युनिज्म के खिलाफ इस्तेमाल करते जो तब समूचे साम्राज्यवाद-पूंजीवाद के लिए एक गंभीर खतरे के तौर पर उभर कर सामने आया था। यदि मानव अपने जीन द्वारा नियंत्रित होता है तथा जीन को बाहर से प्रभावित नहीं किया जा सकता है (उन खास तरीकों को छोड़ कर जिनसे जीन में सांयोगिक या यादृच्छिक परिवर्तन होते हैं) तो स्पष्ट है कि न तो इंसानों को बदला जा सकता है और न इंसानी समाज को।

इन सबके आधी सदी पहले ही उन्नीसवीं सदी में 'सामाजिक डार्विनवाद' की एक धारा पैदा हुई थी। डार्विन ने अस्तित्व के लिए संघर्ष और सर्वोत्तम की उत्तरजीविता का विचार माल्थस से लिया था और उसे मानवों से इतर अन्य जीवों पर लागू किया था। अब 'सामाजिक डार्विनवादियों' ने इस सिद्धान्त को प्राकृतिक जगत से लाकर फिर मानव समाज पर लागू किया और कहा कि प्रकृति के वही नियम इंसानी समाज पर भी लागू होते हैं। चूंकि ये नियम प्राकृतिक हैं इसलिए न केवल ये सार्वजनीन और सार्वकालिक हैं बल्कि इनसे बचा नहीं जा सकता। इनसे बचने का कोई भी प्रयास असफल होने के लिए अभिशप्त है। पूंजीवादी समाज में सबका सबके

खिलाफ संघर्ष और सर्वोत्तम का जीवित रहना ही सबसे स्वाभाविक है। इसमें व्यक्ति सब कुछ है और व्यक्ति के अपने हितों की साधना के प्रयास से ही समूह के हित सधते हैं।

जैसे डार्विनवाद का जीन के सिद्धान्त से संवंर्धन हुआ उसी तरह 'सामाजिक डार्विनवाद' भी जीन नियंत्रित मानव की धारणा से और पुख्ता हो गया। और इस आधार पर कम्युनिज्म का नकार भी और मुखर हो गया। कम्युनिज्म के विरोध को एक नया वैज्ञानिक आधार मिल गया।

यहां याद रखना होगा कि आनुवंशिकी का आधुनिक संश्लेषण के कठोर रूप में विकास ज्यादातर संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैण्ड में हुआ। यूरोप में और सोवियत संघ में जीन पर इस तरह का इकतरफा जोर नहीं था। वहां जीन के साथ जीव और वातावरण, जीनोटाइप के साथ भ्रूण विकास तथा डार्विन के साथ लामार्क की चर्चा होती रही। पर समय के साथ अमेरिकी-ब्रिटिश सिद्धान्त ही हावी होता चला गया। ग्रेट ब्रिटेन पुरानी सर्वप्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति था और संयुक्त राज्य अमेरिका नयी सर्वप्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति। नयी सर्वप्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति आर्थिक-सामरिक ही नहीं बल्कि वैचारिक तौर पर भी सबसे प्रभावी ताकत बनकर उभरी थी। वैज्ञानिक शोधों और सिद्धान्तों के मामले में भी यही स्थिति थी।

इन्हीं स्थितियों में सोवियत संघ में 1930 के मध्य से 1960 के मध्य तक जीव विज्ञान में वह घटित हुआ जिसे साम्राज्यवादी दुनिया में 'लीसेंको प्रकरण' का नाम दिया गया और जिस पर आज भी साम्राज्यवादी विश्व के ज्यादातर वैज्ञानिक व विज्ञान के इतिहासकार शांत चित्त से चर्चा नहीं कर सकते।

II

'लीसेंको प्रकरण'

त्रोफिम देनिसोविच लीसेंको सोवियत संघ के एक कृषि शास्त्री थे। उनका जन्म 1898 में उक्रेन के एक गांव में हुआ था। 1920 के दशक में उन्होंने एक कृषिशास्त्री के तौर पर अपना वैज्ञानिक जीवन शुरू किया।

लीसेंको को अपनी पहली वैज्ञानिक सफलता गेहूं की शीत किस्म के संबंध में मिली। इस मामले में उन्होंने जो तकनीक विकसित की वह आज भी वर्नलाइजेशन (वासंतीकरण) के नाम से मशहूर है। वर्नलाइजेशन शब्द भी लीसेंको का गढ़ा हुआ है। हालांकि इस तकनीक की खोज उन्नीसवीं सदी के मध्य में सं. रा. अमेरिका और रूस दोनों जगह हुई थी लेकिन उसे तभी भुला दिया गया। लीसेंको ने उसे नये सिरे से खोजा और व्यवहार में लागू किया।

रूस के ठंडे प्रदेशों में गेहूं को शीत ऋतु की शुरूआत में ही बो दिया जाता था। पूरी सर्दियों में बीज जमीन में पड़ा रहता था। जब वसंत में वर्फ पिघलनी शुरू होती थी तो बीज अंकुरित होता था और पौधा निकलता था। पर अक्सर पाला पड़ने की वजह से नये अंकुरित बीज या पौधे का बहुत नुकसान हो जाता था। इससे बचने के लिए यदि बीज को वसंत में बोया जाता था तो बाद में पौधे को गर्मी का सामना करना पड़ता था जो कुल उत्पाद को प्रभावित करता था। इससे निजात के लिए लीसेंको ने जो तरीका अपनाया वह यह था। गेहूं को सर्दियों की शुरुआत में खास अवस्था में रख अंकुरित कर लिया जाता था। फिर अंकुरित बीजों को निम्न ताप पर सुरक्षित रख दिया जाता था। जब वसंत आ जाता था तब इन अंकुरित बीजों को बो दिया जाता था। इससे वसंत की शुरुआत में पाले और बाद में बोने से गर्मी की समस्या दोनों से निजात मिल जाती थी। सर्दियों में बोये जाने वाले गेहूं को वसंत में बोने की इस तकनीक को इसीलिए वासंतीकरण (वर्नलाइजेशन) का नाम दिया गया। इस तकनीक में सैद्धान्तिक बात यह थी कि सर्दियों में बोया जाने वाला गेहूं एक खास प्रक्रिया में वसंत में बोये जाने के लिए अनुकूलित हो जा रहा था। यह देखते हुए कि पौधे प्राकृतिक तौर पर किसी खास मौसम के लिए अनुकूलित होते हैं, यह बाहरी प्रभाव में पौधे के अनुकूलन में परिवर्तन था। यह लामार्क के अर्जित लक्षणों की वंशागति' के अनुरूप तो था पर नयी उभरती जीन आधारित आनुवंशिकी के अनुरूप नहीं।

गेहूं के इस वासंतीकरण ने सोवियत संघ के कई क्षेत्रों में गेहूं की फसल को बहुत लाभ पहुंचाया। इससे एक गंभीर समस्या से उबरने में मदद मिली। ऐसी ही सफलता लीसेंको ने आलू के संबंध में पाई। आलू सोवियत संघ के ठंडे प्रदेशों में तो आसानी से पैदा हो जाता था पर जब उसे स्तेपी के दक्षिणी मैदानों में उगाने का प्रयास किया गया तो बहुत कठिनाइयां आईं। अक्सर ही बोये जाने वाले अंकुर नष्ट हो जाते थे। अंत में अंकुरों को जब एक खास तरह से संसाधित किया गया तो इस समस्या से निजात मिल गई। यह देखते हुए कि बाद में आलू सोवियत संघ का एक प्रमुख खाद्य पदार्थ बन गया, यह भी लीसेंको की एक महती उपलब्धि थी।

लीसेंको की तीसरी बड़ी उपलब्धि पेड़-पौधों के कलम के क्षेत्र में थी। कलम की तकनीक (ग्राफ्टिंग) हजारों साल पुरानी है। लीसेंको ने सोवियत वैज्ञानिक मिचूरिन के नक्शेकदम पर चलते हुए दिखाया कि कलम से ऐसी प्रजातियां विकसित की जा सकती हैं जिनकी विशेषताएं दोनों पौधों की मिश्रण हों। एक ही पौधे पर दोनों मूल पौधों की विशेषताओं के अलग-अलग प्रकटन (शिमेरा) से आगे बढ़कर यह विशेषताओं का आपस में घुल-मिल जाना था। उदाहरण के लिए यदि एक प्रजाति सेव हो और दूसरी आड़ू तो नया फल दोनों के बीच के स्वाद का हो। इसे विजिटेटिव हाइब्रिडाइजेशन (वानस्पतीय संकरण) का नाम दिया गया। वैसे यह भी कोई नयी चीज नहीं थी। डार्विन पहले ही इसका व्यावहारिक उदाहरण को लेते हुए जिक्र कर चुके थे। लीसेंको के नेतृत्व में सोवियत संघ में जो नयी चीज हुई वह थी इसका बड़े पैमाने पर प्रयोग। मिचुरिन पहले ही करीब तीन सौ प्रकार के फलों-फूलों को विकसित कर चुके थे। अब यह एक अभियान बन गया।

इस खास संकरण ने नये उभरते आनुवंशिक विज्ञान के लिए और ज्यादा चुनौती पैदा की। यहां बिना लैंगिक प्रजनन के दो प्रजातियों की विशेषताएं मिश्रित हो जा रही थी। नयी आनुवंशिकी के हिसाब से यह असंभव था। इसीलिए उन्होंने दावा किया कि जरूर किसी न किसी रूप में लैंगिक प्रजनन हो रहा होगा। इसके लिए उन्होंने प्रयोगों की विश्वसनीयता पर सवाल खड़े किये। वे बस भूल गये कि इस तरह से सवाल खड़ा कर वे अपने सर्वमान्य आदि गुरू डार्विन पर भी सवाल खड़ा कर रहे थे। (डार्विन के अपने जेम्यूल और पैनजेनेसिस के सिद्धान्त में इस तरह के मिश्रण की गुंजाइश थी)

लीसेंको की उपरोक्त क्षेत्रों में सफलताओं ने उन्हें एक ऊंचे स्तर के कृषिशास्त्री के रूप में स्थापित कर दिया। उनके इन प्रयोगों ने वंशागति और आनुवंशिकी के संबंध में महत्वपूर्ण सवाल खड़े कर दिये थे और समय के साथ उन्होंने अपना नया सिद्धान्त पेश किया जो लामार्क के 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के अनुरूप था पर नयी उभरती आनुवंशिकी के बिलकुल खिलाफ। लीसेंको ने अंततः जो अपना समग्र सिद्धान्त पेश किया उसे उन्होंने 'मिचुरिन जीव विज्ञान' का नाम दिया। उन्होंने स्वयं को पहले के रूसी-सोवियत वैज्ञानिकों तिमिर्याजेव और मिचुरिन का अनुयाई बताया।

लीसेंको के सिद्धान्त का सार इस तरह है :

कोई जीव अपने खास वातावरण के लिए अनुकूलित होता है। एक खास अर्थ में बाहरी वातावरण उसके आंतरिक जगत का हिस्सा होता है। जब जीव उसी वातावरण में विकसित होता है तो युग्मनज से लेकर मृत्यु तक उसका विकास उसी तरह से होता जाता है जैसे वह जीव एक प्रजाति के तौर पर अस्तित्व में आया है। पर यदि वातावरण भिन्न हो तो विकास दूसरे रूप में होने लगता है। जीव नयी चीजें हासिल करता है और वे उसके विकास का हिस्सा हो जाती हैं। वे अगली पीढ़ी में स्थानांतरित हो जाती हैं। लीसेंको के अनुसार वंशागति (**heredity**) और कुछ नहीं बल्कि जीव द्वारा अपने वातावरण में अपने विकास के लिए शर्तों की जरूरत है।

लीसेंको के अनुसार वंशागति न तो कोई तत्व है और न ही तत्वों पर आधारित है। यह शरीर-वैज्ञानिक (**physiological**) प्रक्रिया है और जीव और उसके वातावरण के बीच जीवन भर की अंतर्क्रिया का परिणाम है। जब जीव किसी वातावरण में विकसित होता है तो वह अपने बाहर की वातावरण की स्थितियों को अपने पहले से मौजूद वंशागति के अनुरूप आत्मसात करता है। जो पहलू अनुकूल होते हैं उनका वरण होता है और उन्हें आत्मसात किया जाता है। जो अनुकूल नहीं होते उन्हें अपवर्जित कर दिया जाता है। जीव के विकास की पूरी प्रक्रिया में वंशागति एक स्प्रिंग की तरह खुलती है और अगली पीढ़ी के लिए स्प्रिंग सिकोड़ दी जाती है। यदि वातावरण जीव की वंशागति के हिसाब से सामान्य है तो वंशागति सीधे अगली पीढ़ी में चली जाती है पर यदि वातावरण अलग है तो वंशागति बदल जाती है और अगली पीढ़ी में यह बदली वंशागति ही स्थानांतरित होती है। बाहरी वातावरण में तीखे परिवर्तन से वंशागति को अस्थिर किया जा सकता है और अगली पीढ़ी के लिए उसे बदला जा सकता है। लैंगिक प्रजनन में युग्मक एक-दूसरे के लिए वातावरण का काम करते हैं और निषेचन से दोनों की वंशागति का आपस में आत्मसातीकरण होता है जो खास तौर पर बाहरी वातावरण से प्रभावित होने की स्थिति में होता है। अंत में यह कि किसी जीव की वंशागति में वातावरण में इस तरह का परिवर्तन नयी प्रजातियों की उत्पत्ति का भी मेकेनिज्म है। (रिचर्ड लेमोन्टिन द्वारा प्रस्तुत सूत्रीकरण का संक्षिप्त शब्दान्वय)

लीसेंको की वंशागति के इस सिद्धान्त में जो खास बात है वह यह कि वे जीव के शरीर विज्ञानी विकास पर और बाहरी वातावरण से इसके संबंध पर बहुत जोर देते हैं। उन्होंने पेड़-पौधों के लिए चरणबद्ध विकास का अपना सिद्धान्त पेश किया। कहा गया कि पेड़-पौधों का विकास चरणों में होता है और अलग-अलग चरण की अपनी खास जरूरतें होती हैं। यहां तक कि एक बीज के विकास की भी अपनी चरणबद्ध जरूरतें होती हैं। इन जरूरतों को और पेड़-पौधों की वंशागति को अलग-थलग नहीं किया जा सकता। और चूंकि जरूरतें बाहरी वातावरण से सीधे सम्बद्ध हैं इसलिए वंशागति को बाहरी वातावरण से भी अलग-थलग नहीं किया जा सकता। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बाहरी वातावरण को परिवर्तित कर या शरीर विज्ञानी विकास को प्रभावित कर वंशागति को प्रभावित और परिवर्तित किया जा सकता है।

लीसेंको के ये सिद्धान्त नयी स्थापित हो रही आनुवंशिकी के सीधे विरोध में थे। जहां लीसेंको के लिए वंशागति एक प्रक्रिया थी वहीं नयी आनुवंशिकी के लिए वंशागति एक संरचना (जीन) थी। (वंशागति में क्रोमोसोम के महत्व को स्वीकार करते हुए भी लीसेंको उस पर ज्यादा ध्यान देने का तैयार नहीं थे)। जहां लीसेंको के लिए वंशागति जीव के पूरे जीवन चक्र से दृढ़ता से संबद्ध थी वहीं नयी आनुवंशिकी के लिए जीव जीन के लिए खोल भर था। जहां लीसेंको के लिए वंशागति जीव केन्द्रित चीज थी वहीं नयी आनुवंशिकी के लिए प्रजाति की आबादी की परिघटना। जहां लीसेंको के लिए वंशागति में बाहर से दिशागत परिवर्तन संभव था वहीं नयी आनुवंशिकी में यह परिवर्तन यादृच्छिक या सांयोगिक ही हो सकता था। जहां लीसेंको के लिए बाहरी वातावरण वंशागति का एकीकृत हिस्सा था वहीं नयी आनुवंशिकी के लिए यह केवल एक छन्नी भर जिसके द्वारा अनुकूल जीन पूल का वरण होता है।

एकदम भिन्न दिशाओं में जाने वाले इन दोनों सिद्धान्तों में टकराव लाजिमी था। और यह टकराव हुआ। इस टकराव के वैज्ञानिक पहलू को समझने के लिए यह याद रखना होगा कि नयी आनुवंशिकी ने लामार्कवाद को गलत नहीं ठहराया था। बस उसे नजरअंदाज कर दिया गया था। दुनिया भर में ढेरों प्रयोग थे जो उसे सही ठहराते थे और सोवियत संघ सहित सारी दुनिया में वह विकासवाद का एक प्रचलित सिद्धान्त था जिसे बहुत सारे वैज्ञानिक ठीक मानते थे। यानी स्थिति वह नहीं थी जो बाद में हुई और जो विद्यालयों में विजमान द्वारा चूहे की पूंछ काटे जाने के उदाहरण के जरिये बच्चों को बताया जाता है।

सोवियत संघ में 1930 के दशक में नया आनुवंशिक विज्ञान एक फलता-फूलता विज्ञान था और वह इसमें केवल सं. रा. अमेरिका से पीछे था। सोवियत संघ में भी प्रयोगशालाओं में खास जीवों पर प्रयोग हो रहे थे। ये प्रयोग प्रयोगशालाओं तक सीमित थे क्योंकि नयी आनुवंशिकी की व्यावहारिक उपलब्धियां 1960 के दशक से ही सामने आनी शुरू हुईं।

सोवियत संघ में आनुवंशिकी के क्षेत्र में लीसेंको और उनके विरोधियों के बीच टकराव 1930 के मध्य से शुरू हुआ। आरंभ से ही इस टकराव में न केवल सोवियत वैज्ञानिक शामिल थे बल्कि अन्य देशों के वैज्ञानिक भी शामिल थे। इस टकराव में पहला मुकाम 1937 में जीव वैज्ञानिकों का एक सम्मेलन था जो एक तरह से सुलह-समझौते में समाप्त हुआ। लेकिन दो भिन्न दृष्टिकोण पर खड़े दो भिन्न सिद्धान्तों के बीच सुलह-समझौता लम्बे समय तक नहीं चल सकता था। बीच में दूसरे विश्व युद्ध की आशंका के मद्देनजर तैयारियों और फिर विश्व युद्ध की विभीषिका के चलते यह मामला टल गया पर विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद यह मसला फिर गहरा गया। अंत में मामले को हल करने के लिए अगस्त 1948 में एक बड़ा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने लंबे बहस-मुबाहसे के बाद अंततः लीसेंको के सिद्धान्तों के पक्ष में फैसला दिया। यहां यह रेखांकित करना होगा कि इस सम्मेलन के खुले और जनवादी होने पर कोई सवाल नहीं है। हालांकि लीसेंको के विचारों को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी और स्वयं स्टालिन का समर्थन हासिल था (स्टालिन ने लीसेंको द्वारा सम्मेलन में पेश की गयी रिपोर्ट को पढ़ा था और उसमें संशोधन किया था, जिसमें से एक विज्ञान को बुर्जुआ और सर्वहारा विज्ञान में विभाजित करने का सूत्रीकरण भी था जिस पर स्टालिन ने असहमति जाहिर की थी) पर इसे सम्मेलन में बताया नहीं गया। केवल अंत में जाकर समापन भाषण देते समय ही लीसेंको ने बताया कि उनके विचारों को पार्टी और स्टालिन का समर्थन हासिल है।

इस सम्मेलन के बाद सोवियत संघ में 1964 तक लीसेंको के विचारों का प्रभुत्व रहा। थोड़ी हिचक के बाद ख्रुश्चोव ने भी लीसेंको को अपना समर्थन दिया और यह ख्रुश्चोव के पूरे काल में बना रहा। जब 1964 में ख्रुश्चोव का पतन हुआ तो उसके कुछ समय बाद लीसेंको का भी प्रभाव खत्म हो गया। ब्रेझनेव-कोसिगिन द्वारा ख्रुश्चोव को हटाने के लिए जो आरोप लगाये गये थे उनमें से एक लीसेंको के गलत विचारों को प्रश्रय देना भी था। हालांकि लीसेंको को उनके अकादमिक पद से हटाया नही गया पर उनका प्रभाव खत्म हो गया था। और सोवियत आनुवंशिकी विज्ञान उस रास्ते पर चल पड़ा जिस पर वह दुनिया भर में चल रहा था।

लीसेंको पर, खासकर पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया के, वैज्ञानिकों और विज्ञान इतिहासकारों द्वारा तमाम किस्म के आरोप लगाये जाते रहे हैं। यह 1930 के दशक से ही शुरू हो गया था जो बढ़ता ही गया। बाद में लीसेंको के अवसान के बाद सोवियत संघ में भी मेदवेदेव और जोरावस्की जैसे उदारवादियों द्वारा इसमें खूब योगदान किया गया। अंत में हालत यह हो गई कि लीसेंको का नाम वैज्ञानिकों के लिए एक गाली बन गया। लीसेंको पर वैज्ञानिक, विचारधारात्मक और प्रशासनिक तीनों पहलुओं से हमला किया गया।

आज पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया में स्थापित बात है कि लीसेंको कोई वैज्ञानिक नहीं थे। वे लगभग अनपढ़ जाहिल थे। ज्यादा से ज्यादा वे एक निम्न स्तर के भौड़े तकनीशियन थे। उनके प्रयोग वैज्ञानिक मापदंडों को पूरा नहीं करते। उनके दावे झूठे थे और आंकड़े भी। उनके प्रयोगों को अन्यत्र स्वतंत्र रूप से सत्यापित नहीं किया जा सका। उनके प्रयोगों को जब जमीनी स्तर की खेती में इस्तेमाल किया गया तो उसके बहुत भयानक परिणाम निकले जिसे सोवियत सरकार ने लीसेंको का समर्थन करने के कारण उजागर नहीं होने दिया। इत्यादि, इत्यादि।

इन बातों में कितनी सच्चाई है इसे समझने के लिए अगस्त 1948 के सम्मेलन के विस्तृत कार्यवृत्त पर एक नजर डाल लेना ही पर्याप्त होगा। लीसेंको ने जो रिपोर्ट पेश की थी वह किसी अनपढ़-जाहिल व्यक्ति का कारनामा नहीं लगती। इससे भी आगे बढ़कर वह तथ्य है जिसे कोई झुठला नहीं सकता। लीसेंको और उनके समर्थकों ने बार-बार अपने विरोधियों को चुनौती दी की वे उनके प्रयोगों (वर्नलाइजेशन इत्यादि) की अपने आनुवंशिकी के सिद्धान्त के हिसाब से व्याख्या करें। इसी के साथ खेतों-खलिहानों में प्राप्त उनकी व्यावहारिक सफलता के बरक्स अपनी सफलता प्रस्तुत करने की चुनौती दी। विरोधी दोनों नहीं कर पाये। यदि लीसेंको के प्रयोग और खेतों-खलिहानों में उनकी सफलता का दावा फर्जी था तो विरोधियों का काम बहुत आसान था। उन्हें बस इन्हें फर्जी साबित कर देना था। पर उन्होंने यह नहीं किया क्योंकि इसे किया नहीं जा सकता था। विरोधियों ने लीसेंको के सिद्धान्त में तो बारीक से बारीक खोट निकाली पर उनके प्रयोगों और व्यावहारिक सफलता के दावों पर कोई सवाल नहीं उठाया।

इसे दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। जैसा कि पहले बताया गया है, लीसेंको के मुख्य प्रयोग (वर्नलाइजेशन, वानस्पतीय संकरण इत्यादि) पहले भी किये जा चुके थे। लोग उनसे परिचित भी थे। वानस्पतीय संकरण का उदाहरण तो स्वयं डार्विन ने ही अपनी प्रसिद्ध किताब में दिया हुआ था। इसलिए इस तरह के प्रयोगों को सिरे से नकारना कम से कम सोवियत संघ में नामुमकिन था जहां वे बड़े पैमाने पर दोहराये जा रहे थे। साम्राज्यवादी दुनिया में एक खास माहौल में ही इस नकार को स्वीकृति मिल सकती थी। वहीं यह हो सकता था कि लोग मेदवेदेव, जोरावस्की के किस्म के लोगों की बातों को आंख मूंद कर स्वीकार कर लें जो एक सांस में कहते थे कि लीसेंको के प्रयोग झूठे थे और दूसरी सांस में कहते थे कि इन प्रयोगों को तो लीसेंको के बहुत पहले किया जा चुका था यानी लीसेंको के प्रयोग मौलिक नहीं थे।

दूसरे लीसेंको की सारी ख्याति और सारी मान्यता उनके प्रयोगशाला के प्रयोगों या उनके सिद्धान्तों पर नहीं टिकी थी। इसके बदले वह खेत-खलिहानों की व्यावहारिक समस्याओं को हल करने पर टिकी थी। यदि वहां सफलता नहीं मिलती तो लीसेंको तीन दशक तक नहीं टिके रह सकते थे। जिस जमाने में उद्योग में सोवियत संघ बाहर से हर तकनीक और तकनीकी विशेषज्ञ हासिल करने की कोशिश कर रहा था और जब उत्पादन के लिए संस्थानों के निदेशकों को व्यक्तिगत तौर पर जिम्मेदार ठहराया जा रहा था तब लीसेंको

के असफल तरीकों को क्यों सहा जाता? क्यों सोवियत राज्य असफल तरीकों को फर्जी आकड़ों से ढंकने का प्रयास करता? उद्योग के मामले में इतना व्यावहारिक सोवियत राज्य खेती के मामले में उलटा व्यवहार क्यों करता? यह सब किसी भी तर्क से परे है।

यह सब किसी भी तर्क से परे इसीलिए है कि यह तथ्य से परे है। रिचर्ड लेवोन्टिन ने अपनी किताब **द्वन्द्ववादी जीव वैज्ञानिक** में एक दिलचस्प आंकड़ा पेश किया है। इन आंकड़ों का स्रोत अमेरिकी सरकार है। वह इस प्रकार है

यह महत्वपूर्ण है कि दूसरे विश्व युद्ध के काल में सोवियत संघ में गेहूं की खेती का रकबा करीब ढाई गुना बढ़ गया था जबकि अमेरिका में यह रकबा एक चौथाई घट गया था। यानी सोवियत संघ में नयी कम उपजाऊ जमीन उपयोग में लाई गयी होगी जबकि अमेरिका में कम उपजाऊ जमीन खेती से बाहर हो गयी होगी। इसके बावजूद सोवियत संघ में उत्पादन के बढ़ने की रफ्तार अमेरिका से तेज थी। यह याद रखना होगा कि **1948-64** का काल ही सोवियत संघ में लीसेंको के सबसे ज्यादा प्रभुत्व का काल माना जाता है। स्पष्ट है कि स्वयं साम्राज्यवादी सरकारों के आंकड़े लीसेंको के बारे में साम्राज्यवादी प्रचार का समर्थन नहीं करते।

गेहूं की प्रति एकड़ पैदावार

lky	l- jk- vefjdk	lkfo;r la?k
1926-28	100 (14.83 बुशेल/एकड़)	100 (6.69 बुशेल/एकड़)
1929-31	98	104
1932-34	82	93
1935-37	87	97
1938-40	96	113
1941-44	118	–
1945-47	118	72
1948-50	116	106
1951-53	116	135
1954-56	128	130
1957-59	159	172
1960-62	169	184
1963-65	175	162
1966-68	181	213
1969-70	207	236

sourse: Historical Statistics (US Bureau of the Census,1975)

लीसेंको पर दूसरा प्रमुख आरोप विचारधारात्मक है। कहा जाता है कि लीसेंको भले कभी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य न रहे हों पर उन्होंने अवसरवादी तरीके से जीव विज्ञान में वे सिद्धान्त प्रस्तुत किये जो सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारा और दर्शन के अनुरूप थे। पार्टी ने इसीलिए उन्हें प्रश्रय दिया और प्रचारित-प्रसारित किया। चूंकि कम्युनिज्म समाज बदलकर व्यक्ति बदलने की बात करता है इसलिए वह स्वभावतः लामार्कवाद को तरजीह देता है और अपरिवर्तनीय जीन वाले आनुवंशिक विज्ञान को नकारता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी इस चीज को नकारने की ओर ले जाता है कि जीन जीव को तो निर्धारित करे पर स्वयं उससे प्रभावित न हो। लीसेंको और उनके समर्थकों ने हमेशा बहस को इसी फ्रेम में प्रस्तुत किया और चूंकि सोवियत वैज्ञानिक राज्य द्वारा स्वीकार्य दर्शन को मानने के लिए बाध्य थे, इसीलिए लीसेंको विरोधी हमेशा ही एक कमजोर जमीन पर होते थे। कभी मार्क्सवादी रह चुके जाक मोनाड के शब्दों में वे शुरू से ही पराजित होने के लिए बाध्य थे। साम्राज्यवादी देशों के वैज्ञानिकों ओर विचारकों के लिए यह इस बात का ठोस उदाहरण है कि जब विचारधारा विज्ञान पर हावी होती है तो उसका क्या परिणाम निकलता है। इसीलिए वे विज्ञान की विचारधारा से दूरी की वकालत करते हैं।

पर क्या वास्तव में ऐसा था?

इस संबंध में पहली बात तो यही कि ऐसा नहीं था कि नयी आनुवंशिकी की द्वन्द्ववादी व्याख्या नहीं की जा सकती थी। सोवियत संघ में लीसेंको के विरोधियों और आनुवंशिकी के समर्थकों ने इसकी द्वन्द्ववादी व्याख्या करने की कोशिश की। यह **1920** के दशक से **1948** तक चलता रहा। उनकी अपनी नजरों में यह व्याख्या पर्याप्त भी थी। यानी कम्युनिज्म और आनुवंशिकी के बीच अथवा मार्क्सवादी दर्शन और आनुवंशिकी के बीच जिस बेमेलपन को पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया में मान कर चला जाता था उसका सोवियत आनुवंशिक वैज्ञानिकों के लिए वजूद नहीं था। वे केवल इस आधार पर मात नहीं खा सकते थे।

दूसरे, ठीक उसी समय विकसित हो रहा भौतिकशास्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त ऊपरी तौर पर मार्क्सवादी दर्शन के और भी विपरीत था। यह था क्वांटम मेकेनिक्स का सिद्धान्त। सूक्ष्म कणों की दुनिया का यह अजीबोगरीब सिद्धान्त न केवल सोवियत संघ में

फल-फूल रहा था बल्कि सोवियत वैज्ञानिक उसके विकास में बढ़-चढ़कर भूमिका निभा रहे थे। यदि मार्क्सवादी दर्शन से बेमेल होने के कारण ही सोवियत संघ में किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त को नकारा और दबाया जा रहा था तो ऐसा सबसे ज्यादा क्वांटम मेकेनिक्स के मामले में होना चाहिए था। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। ऐसा भी नहीं था कि इस विज्ञान के आधार पर समाज के लिए दार्शनिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा रहे थे। ये निष्कर्ष निकाले जा रहे थे और खासतौर पर मार्क्सवादी विरोधी। तब से आज तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर हमला करने के लिए इसका इस्तेमाल होता रहा है।

एक और तथ्य मामले को स्पष्ट करेगा। 1948-50 के काल में सोवियत संघ में भाषा विज्ञान को लेकर भी बहस चली थी। कुछ लोग दुनिया भर में प्रचलित भाषा विज्ञान को नकार कर एक नया भाषा विज्ञान प्रस्तावित कर रहे थे। इसका मूल तत्व था वर्गीय भाषा। स्टालिन ने इसका विरोध किया और कहा कि भाषा को समाज व्यवस्थाओं और वर्गों से संबद्ध नहीं किया जा सकता। किसी समाज में सारे वर्ग मूलतः एक ही भाषा बोलते हैं और समाज बदलते ही भाषा नहीं बदल जाती। भाषा की गति के अपने नियम हैं।

यहां यह भी याद रखना होगा कि स्टालिन ने लीसेंको की 1948 की रिपोर्ट में उल्लिखित बुर्जुआ विज्ञान और सर्वहारा विज्ञान की अवधारणा को रद्द कर दिया था।

ये सब बातें इस चीज को खारिज करती हैं कि सोवियत राज्य और सोवियत पार्टी ने अपनी खास विचारधारा की वजह से लीसेंको के गलत सिद्धान्तों को तरजीह दी और अवसरवादी लीसेंको ने इसका इस्तेमाल किया। यहां यह तथ्य भी रेखांकित करना होगा कि पार्टी ने वैज्ञानिकों के बीच इस बहस में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। 1948 के प्रसिद्ध सम्मेलन में भी पूरी बहस का समापन हो जाने के बाद ही लीसेंको ने उद्घाटित किया कि उनकी रिपोर्ट को पार्टी और स्टालिन का समर्थन हासिल है।

इस विचारधारात्मक आरोप के पीछे या उसकी तह में स्वयं साम्राज्यवादी दुनिया की अपनी विचारधारा छिपी हुई है। साम्राज्यवादी विचारक यह मानकर चलते हैं कि चूंकि सोवियत संघ की राज्य के स्तर की अपनी एक खास विचारधारा थी और उनके अनुसार सोवियत राज्य और उसकी विचारधारा हर चीज की नियामक थी, इसलिए विज्ञान उससे प्रभावित होता ही और वह भी नकारात्मक तरीके से। यह मान लेने के बाद उन्हें बस अपनी मान्यता के हिसाब से तथ्य खोजने की जरूरत बचती है। यदि तथ्य नहीं मिलेंगे तो वे उसे गढ़ लेंगे। लीसेंको के मामले में उन्होंने यही किया। उन्होंने 1948 में लीसेंको की इस शिकायत पर ध्यान नहीं दिया कि उस समय भी सभी शिक्षण और शोध संस्थानों में लीसेंको विरोधी ही छाये हुए थे। यदि सोवियत राज्य सीधे तौर पर लीसेंको और उनके सिद्धान्तो को बढ़ावा दे रहा होता तो कम से कम यह स्थिति नहीं होती।

लीसेंको पर तीसरे तरह का आरोप प्रशासनिक किस्म का है। कहा जाता है कि लीसेंको बेहद चालाक किस्म के अवसरवादी कैरियरवादी थे। वे खुद कभी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं बने। पर उन्होंने सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और स्वयं स्टालिन का विश्वास अर्जित कर उसका इस्तेमाल किया और अपने विरोधियों को ठिकाने लगाया। उन्होंने बहुत सारे वैज्ञानिकों को जेल भिजवाया और कुछ को तो मौत के मुंह में भी ढकेला। आज पश्चिमी दुनिया में लीसेंको को जिक्र आता है तो मूलतः इसी की चर्चा होती है। इसी को लेकर लीसेंको को गालियां दी जाती हैं। सोवियत विज्ञान के अमेरिका के एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ लोरेन ग्राहम ने 2016 में जब 'लीसेंको का भूत' नामक किताब लिखी तो इस आरोप को एक बार फिर उसमें दोहराया।

इस संबंध में सबसे बेहतर यही होगा कि 2004 में प्रकाशित एक किताब से एक उद्धरण दे दिया जाये। इस किताब का नाम है **स्टालिन का भव्य विज्ञान** (Stalin's Great Science)। इसके लेखक हैं अलक्सेई कोजेव्निकोव। लेखक रूसी हैं पर किताब पश्चिमी साम्राज्यवादी संस्थाओं के सहयोग से निकली है और लंदन से प्रकाशित हुई है। किताब को पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि लेखक की लीसेंको या स्टालिन से कोई सहानुभूति है। लीसेंको के बारे में पूरी चर्चा करने और 1948 के सम्मेलन का वर्णन करने के बाद वे यह लिखते हैं:

> "हालांकि अकादमी (कृषि विज्ञानों की लेनिन अकादमी-सं) को स्वयं का शुद्धीकरण करने का विशेषाधिकार मिला, करीब एक दर्जन बड़े कृषि संस्थानों और जीव विज्ञान के विभागों के निदेशकों को अगस्त सत्र के बाद केन्द्रीय समिति के सचिवालय के सीधे निर्णय से हटा दिया गया तथा एक सौ से ज्यादा प्रोफेसरों को उच्च शिक्षा मंत्रालय के आदेश से नौकरी से निकाल दिया गया। सार्वजनिक पुस्तकालयों से जीव विज्ञान की कई शैक्षिक किताबों को हटाने के लिए मंत्री के प्रस्ताव को पार्टी के उद्वेलन और प्रचार विभाग का समर्थन तो मिला पर इसे सचिवालय द्वारा रद्द कर दिया गया। ज्यादातर जीव विज्ञान के संस्थानों में गैर-मिचूरिनवादियों को 'आत्मालोचना' के द्वारा 'स्वयं को निरस्त्र' करना पड़ा। शिक्षा और शोध के कार्यक्रमों को बहस के परिणाम के हिसाब से बदल दिया गया। प्रचलित आम धारणा के विपरीत, वैज्ञानिकों को एक 'गलत विचारधारात्मक' सिद्धान्त का अनुयाई होने के कारण गिरफ्तार नहीं किया गया और न ही मारा गया। पर जिन्होंने 'गलती' मानने से मना कर दिया। और अपने विचारों पर अड़े रहे उन्हें अपनी नौकरी खोने का खतरा हो गया। शोध का पूरा एक क्षेत्र, जो सोवियत संघ में एक सबसे विकसित क्षेत्र था, अचानक समाप्त हो गया। और केवल भूमिगत तरीके से ही बचा रह सका- कुछ प्रयोगशालाओं में अन्य शोध कार्यक्रमों की आड़ में या फिर गुप्त नाभिकीय संस्थानों में। स्टालिन की मृत्यु के बाद 1950 के दशक के मध्य से आनुवंशिकी का एक धीमा उभार शुरू हुआ जिससे कि लीसेंको की शक्ति धीमे-धीमे कम होने लगी, हालांकि आधिकारिक तौर पर 1948 का निर्णय बना रहा और नये सोवियत नेता निकिता ख्रुश्चोव ने लीसेंको को व्यक्तिगत तौर पर समर्थन देना जारी रखा तथा आलोचनाओं से उनकी रक्षा की। पार्टी ने 1964 में बन्द दरवाजे के पीछे इस गुल-गपाड़े को स्वीकार किया, जब केन्द्रीय कमेटी ने षड्यंत्रकारी तरीके से ख्रुश्चोव को हटाया तथा उनकी कई सारी राजनीतिक गलतियों में लीसेंको को गलत समर्थन को

भी चिह्नित किया। इसके बाद बिना सार्वजनिक तौर पर गलती को माने सोवियत सरकार ने आणविक जीव विज्ञान और आनुवंशिकी के विकास के लिए भारी संसाधन आवंटित किये जिससे कि नुकसान हो चुके समय की भरपाई हो सके।"

(Alexi B.Kojevnikov, Stalin's Great Science, Imperial College Press, London, 2004,Pp 213-14)

आखिर में सवाल उठता है कि लीसेंको के पूरे मामले को, 'लीसेंको प्रकरण' को कैसे समझा जाये?

इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि 'लीसेंको प्रकरण' जैसी कोई चीज नहीं है। 1930 के दशक के मध्य से 60 के दशक के मध्य तक सोवियत संघ में जिस 'मिचूरिन जीव विज्ञान' का प्रचलन रहा उसका अपना एक वैज्ञानिक आधार था। इसे केवल भीषण पूर्वाग्रह के तहत ही नकारा जा सकता है। जैसा कि पहले बार-बार कहा गया है, 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के लामार्कवादी सिद्धान्त को तब मानने वाले दुनिया में बहुत सारे लोग थे। बहुत सारे प्रयोग और बहुत सारे प्रेक्षण थे जिनकी केवल इसके आधार पर ही व्याख्या की जा सकती थी। लीसेंको और उनके अनुयाईयों ने यही किया। इसके विपरीत नयी आनुवंशिकी इनका कोई संतोषजनक जवाब नहीं दे रही थी। यही नहीं, वह जिस रूप में विकसित हो रही थी उससे बहुत सारे वैज्ञानिक सहमत नहीं थे। 1960 के दशक से पश्चिमी दुनिया में प्रचलित धारणा के विपरीत 1930-40 के दशक में स्थिति ज्यादा विविधतापूर्ण थी। ऐसे में उस काल में सोवियत संघ में आनुवंशिकी में दो सोच और दो पहुंच के बीच बहस उनके लिए एकदम स्वाभाविक थी। यह पूरे दो दशक तक चलती रही और उसने 1948 में जाकर ही एक खास प्रशासनिक मोड़ लिया। आनुवंशिकी के एक खास संस्करण के कठोर अनुयाई ही केवल उस बहस को अजीबोगरीब मान सकते हैं।

लेकिन 'मिचूरिन जीव विज्ञान' का एक वैज्ञानिक आधार होने के साथ उसका एक सामाजिक-राजनीतिक आधार भी था। और यह आधार ऐसा था जिस पर साम्राज्यवादी विचारक चर्चा नहीं करना चाहते।

सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के दौर में सोवियत समाज एक खास तरह की सांस्कृतिक क्रांति से गुजरा था। सोवियत राज्य ने न केवल तेजी से सभी लोगों को शिक्षित किया था बल्कि उनमें भांति-भांति के ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के लिए हर तरीके से प्रयास किया था। विश्व साहित्य की शास्त्रीय रचनाओं से लेकर विज्ञान तक के बारे में बेशुमार किताबें प्रसारित की गईं। खासकर विज्ञान को खूब बढ़ावा दिया गया। कई लोगों ने तब इस बात को चिह्नित किया था कि सोवियत संघ में विज्ञान ने पुराने धर्म की जगह ले ली है। इसके चलते विज्ञान की बहसें केवल अकादमिक दायरे की बहसें नहीं रह जाती थीं, खासकर जब उनका सीधा सामाजिक निहितार्थ हो।

इसी के साथ यह भी हुआ कि विज्ञान को उसकी बंद ऊंची मीनार से बाहर जमीन पर खींच लाया गया। यह घोषित किया गया कि विज्ञान का सही तरह से तभी विकास हो सकता है जब सिद्धान्त और व्यवहार में एकता हो। बहुत कम लोगों को पता है कि सोवियत संघ में वैज्ञानिक शोध संस्थान शिक्षा मंत्रालय के अधीन नहीं बल्कि उन अलग-अलग मंत्रालयों के अधीन होते थे जिनसे वे व्यावहारिक तौर पर जुड़ते थे।

इस चीज ने वैज्ञानिक शोध के मामले में खास किस्म के टकराव को जन्म दिया। ज्यादातर पहले के स्थापित वैज्ञानिक पुरानी बुर्जुआ या पेटी बुर्जुआ पृष्ठभूमि के थे। उन्होंने सोवियत सत्ता को मजबूरी में ही स्वीकार किया था। वे अभिजात तौर-तरीकों वाले थे और वैज्ञानिक शोध को एक खास नजरिये से देखते थे। विज्ञान उनके लिए एक शुद्ध, भावनाहीन, सैद्धान्तिक कार्य था। इसके बदले सोवियत संघ में बुद्धिजीवियों की नयी पीढ़ी अक्सर मजदूरों-किसानों से निकली हुई थी। सोवियत सत्ता उसकी अपनी सत्ता थी। इनके लिए विज्ञान दुनिया बदलने का एक उपकरण था जिसमें उसी जोश और भावना की जरूरत थी जो अन्य क्षेत्रों में। स्वाभावतः ही वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में ये दोनों ही तरह के लोग जब भी आमने-सामने आते उनमें टकराव होना ही था। यह खास किस्म का वर्ग-संघर्ष था।

इसी के साथ उस समय सोवियत खेती की जरूरतों को भी जोड़ लिया जाना चाहिए। उस समय इसके लिए नयी-नयी तकनीक की जरूरत थी और वैज्ञानिक शोधों को इस दिशा में ठोस उपलब्धियां प्रदान करना था। किसी भी अन्य क्षेत्र के मुकाबले यहां ठोस व्यावहारिक परिणामों की ज्यादा मांग थी। पुराने वैज्ञानिकों की अपनी पहुंच इस रास्ते में रोड़ा बनती थी।

इस तरह सोवियत समाज की समग्र गति उस समय 'मिचूरिन जीव विज्ञान' को प्रोत्साहित करती थी और उस समय खास तरह से विकसित हो रही आनुवंशिकी से टकराती थी। सोवियत समाजवाद की उस समय की गति में टकराहट लाजिमी थी। यह तब उस समय सोवियत समाज में चल रहे भांति-भांति के वर्ग-संघर्ष का ही एक रूप थी।

इस वर्ग-संघर्ष का एक बाहरी आयाम भी था। जैसा कि पहले बताया गया है, साम्राज्यवादी देशों में आनुवंशिकी न केवल एक खास ढंग से विकसित हो रही थी बल्कि उससे खास प्रतिक्रियावादी निष्कर्ष भी निकाले जा रहे थे। मानव संवर्धन की परियोजनाएं तथा घृणित नाजी प्रयोग तो बस उसके सबसे खराब रूप थे। जब सोवियत संघ में विज्ञान आम दिलचस्पी और बहस का मुद्दा बना हुआ हो तथा जब वह चारों ओर से साम्राज्यवादियों से घिरा हुआ उनके हर कुचक्र से अपनी रक्षा में लगा हुआ हो तब आनुवंशिकी के प्रतिक्रियावादी निष्कर्षों के महत्व को आसानी से समझा जा सकता है। यह सारा माहौल सोवियत संघ में वैज्ञानिक बहस को प्रभावित कर रहा था।

1948 से इस बहस ने जो नकारात्मक मोड़ लिया उसे भी समझा जा सकता है। स्टालिन के अंतिम काल में सोवियत समाज में एक स्तरीकरण रूढ़ होने लगा था। एक नया विशेषाधिकार सम्पन्न तबका अब अधिकाधिक अपने हितों के बारे में सोचने लगा था। इसमें पार्टी और राज्य के कारकूनों से लेकर लेखक, बुद्धिजीवी, कलाकार, वैज्ञानिक भी थे। जहां दस-पन्द्रह साल पहले नये

बुद्धिजीवियों ने पुराने बुद्धिजीवियों से लड़ाई लड़ी थी वहीं अब वे स्वयं जड़ होने लगे थे। ख्रुश्चोव एण्ड कम्पनी सोवियत संघ के इसी विशेषाधिकार सम्पन्न तबके के नेता थे। स्टालिन अंतिम समय तक इस समस्या का समाधान नहीं निकाल पाये और केवल उसके लक्षणों से लड़ते रहे।

अगस्त 1948 के बाद जीव विज्ञान में प्रशासनिक कदम इसी विशेषाधिकार सम्पन्न तबके द्वारा अपने विशेषाधिकारों के लिए संघर्ष का एक परिणाम था। कई कारणों से स्टालिन इसे तत्काल नहीं देख पाये पर अपने अंतिम समय में उन्होंने लीसेंको को महत्व देना बंद कर दिया था। शायद इस दिशा में कुछ परिवर्तन होता उसके पहले स्टालिन की मृत्यु हो गई। शुरू में ख्रुश्चोव लीसेंको को लेकर सशंकित रहा पर जल्दी ही उसने लीसेंको को पूरा समर्थन दे दिया। उसने समझ लिया था कि लीसेंको अब उसके ही वर्ग के प्रतिनिधि थे। पर जैसा कि हुआ, सोवियत संघ के नये शासक वर्ग ने अपनी जरूरतों को महसूस करते हुए ख्रुश्चोव को हटा दिया और ब्रेझनेव-कोसिगिन को अपना नेता मान लिया। ब्रेझनेव-कोसिगिन ख्रुश्चोव का सारा लबादा फेंककर बेशर्मी के साथ सोवियत संघ को एक 'टेक्नोक्रेटिक' रास्ते पर ले चले (विज्ञान की स्वतंत्र गति की मेदवेदेव, जोरावस्की इत्यादि द्वारा वकालत इसी का हिस्सा थी)। उन्हें पूंजीवादी विकास का यही रास्ता मुफीद लगा। इस रास्ते पर चलने के लिए अब लीसेंको जैसे लोग केवल रोड़ा बन गये थे। ख्रुश्चोव के साथ उनके जैसे लोगों को भी हटा दिया गया।

III

एपीजेनेटिक्स और एपीजेनिसिस

बहुकोशिकीय जीवों में किसी नये जीव का विकास एक कोशिका से होता है। लैंगिक प्रजनन में यह युग्मनज (जाइगोट) से होता है। इंसानों में करीब दो सौ प्रकार की खरबों कोशिकाएं (पचास से सत्तर हजार अरब) होती हैं। लालरक्त कणिकाओं जैसी कोशिकाओं को छोड़ दिया जाय तो सभी में केन्द्रक होता है और हर केन्द्रक में वही 23 जोड़े क्रोमोसोम या गुणसूत्र होते हैं। अब सवाल यह उठता है कि यदि सभी कोशिकाओं में वे ही जीन होते हैं तो कोशिकाएं इतनी भिन्न-भिन्न कैसे हो जाती हैं और उनसे इतने भिन्न-भिन्न किस्म के अंग कैसे पैदा हो जाते हैं! यदि जीन प्रोटीन और विशेषताओं का निर्धारण करते हैं तो यह भिन्नता कैसे आती है?

आनुवंशिकी ने बताया कि जीन प्रोटीन और फिर विशेषताओं का निर्धारण करते हैं। इससे एक स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि ज्यादा विकसित और ज्यादा जटिल जीव में ज्यादा जीन होंगे। पर पाया यह गया कि गिनती की 969 कोशिकाओं वाले सी. एलीगेन्स में करीब 19000 जीन होते हैं जबकि इंसान में करीब 20000। फलमक्खी ड्रोसोफिला में करीब 14000 जीन होते हैं। जीवों की जटिलता और उनके जीन की संख्या में इतना अजीबोगरीब संबंध क्यों है? ऊपर से यह पता चला कि इंसानों में करीब बीस हजार जीन करीब एक लाख प्रोटीन का निर्माण करते हैं और फिर इनसे करीब दस लाख कार्यकारी प्रोटीन बनते हैं। यह कैसे होता है? और फिर इसके बाद जीन द्वारा विशेषता के निर्धारण का क्या रह जाता है?

आनुवंशिकी में माना गया कि जीनोटाइप द्वारा फीनोटाइप के निर्धारण में बाहरी वातावरण भूमिका अदा करता है। कोई जीव जीन और वातावरण दोनों का उत्पाद होता है। पर यह होता कैसे है? बदला हुआ वातावरण बदले हुए जीव को कैसे पैदा करता है जबकि जीनोम वही रहता है? यदि जीन अलील में विविधता के चलते यह संभावना पहले से मौजूद रहती है तब भी यह होता कैसे है? यह कैसे होता है कि बिलकुल एक जैसे जीनोम वाले जुड़वा (समरूप जुड़वा) शारीरिक और मानसिक तौर पर बिलकुल एक जैसे नहीं होते? (कनाडा में 1934 में जन्मी पांच समरूप जुड़वा दिओन्नी बहनों का जीवन इसका उदाहरण है)।

आनुवंशिकी जिन प्रयोगों और प्रेक्षणों का कभी संतोषजनक जवाब नहीं दे पाई उनका स्पष्टीकरण क्या है? 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' कैसे संभव है? इसका मेकेनिज्म क्या है?

डार्विनवाद और नव डार्विनवाद ('आधुनिक संश्लेषण') दोनों सूक्ष्म उद्विकास (माइक्रो इवोल्यूशन) की बात करते हैं यानी छोटे-छोटे परिवर्तन लम्बे समय में संचित होकर नयी प्रजाति को जन्म देते हैं। पर जीवाश्म विज्ञान (पैलियोन्टोलाजी) से स्पष्ट है कि धरती पर जैव विकास सम गति से नहीं बल्कि झटकों में हुआ है। स्टीफन मोल्ड ने इसे 'पंचुएटेड इक्विलिब्रियम' का नाम दिया है यानी एक झटके से जीवों का विकास होने के बाद लम्बे समय तक स्थिरता बनी रहती है। फिर विकास का दूसरा झटका आता है। जैव विकास के इस रूप को वृहद जैव विकास या मैक्रोइवोल्यूशन कहा गया है। इसका आधार क्या है? क्या सूक्ष्म उद्विकास ही वृहद उद्विकास को जन्म देता है या वृहद उद्विकास की अपनी गति है?

पाया यह गया है कि बहुकोशिकीय जन्तुओं में शरीर रचना की मूल योजना (बॉडी प्लान) कैम्ब्रियन काल से स्थिर है। यानी सभी 35 फाइलम (संघ) तभी से मौजूद हैं (जन्तुओं के वर्गीकरण में फाइलम संवर्ग शरीर रचना की योजना का द्योतक है)। करीब 55 से 53 करोड़ साल पहले सभी फाइलम अस्तित्व में आये। तभी से ये मौजूद हैं। ऐसा क्यों है? किसी नयी शरीर रचना योजना का विकास क्यों नहीं हुआ? शरीर रचना योजना का इतना संरक्षण क्यों है? यह संरक्षण जीन और जीनपूल में यादृच्छिक या सांयोगिक परिवर्तनों के जरिये जैव विकास के बारे में क्या बतलाता है?

बहुकोशिकीय जन्तुओं के भ्रूण विकास में पाया गया है कि उनमें 'फाइलोटिपिक' चरण का संरक्षण होता है। यानी वह चरण जब जीव के फाइलम के अनुरूप उसकी मूल शरीर योजना अस्तित्व में आती है वह संरक्षित है। उसके पहले भ्रूण के विकास में जीवों की प्रजातियों के हिसाब से परिवर्तन होता है और बाद में भी। पर यह चरण सुरक्षित है। ऐसा क्यों?

आनुवंशिकी के अनुसार जैव विकास की मूल बात यह है कि जीनोटाइप के हिसाब से फीनोटाइप का निर्धारण होता है और यदि यह वातावरण में जीव के अनुकूलन में मदद करता है तो इसका वरण हो जाता है। यानी जीवन के लिए संघर्ष, अनुकूलन और वरण इसमें प्रमुख तत्व है। पर जीवों में बहुत सारी विशेषताएं मिलती हैं जो पूर्णतया अनुकूलित नहीं हैं (इंसान का दौ पैरों पर चलना इनमें से एक है)। इसके अलावा ऐसी बहुत सारी विशेषताएं होती हैं जिनका अनुकूलन से कोई संबंध नहीं होता। ये सारी चीजें जैव विकास के बारे में क्या बतलाती हैं?

अंत में यह सवाल कि क्या वास्तव में डी एन ए एक स्व प्रतिकृति (सेल्फ रिप्लिकेशन) वाला अणु है? क्या वास्तव में वह अपनी प्रतिकृति बनाता है? इससे भी आगे बढ़कर क्या वह वास्तव में प्रोटीन का निर्माण करता है? क्या सैद्धान्तिक तौर पर यह असंभव है कि प्रोटीन निर्माण पलटकर डी एन ए का परिवर्तित करे?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो हमेशा से आनुवंशिकी के लिए असुविधाजनक सवाल रहे हैं। आनुवंशिकी के कठोर अनुयाई इन सवालों से कन्नी काटते रहे हैं या कुछ आम बातें कह कर निकलते रहे हैं। पर अब जीव विज्ञान में पिछले तीन-चार दशकों का विकास इस दिशा में बेहतर जवाब देने की ओर बढ़ रहा है। एक ओर जीव विज्ञान की नयी शाखा एपिजेनेटिक्स ने बहुत सारे सवालों के जवाब की ओर रास्ते खोले हैं तो दूसरी ओर विकास का उद्विकास (evolution of development) जैसी शाखाओं ने भी। यहां इनमें से कुछ की चर्चा की जायेगी।

बहुत पहले 1940 के दशक में ही ब्रिटिश मार्क्सवादी जीव वैज्ञानिक कोनार्ड वैडिंगटन ने 'एपिजेनेटिक्स' शब्द गढ़ा था जिसका शाब्दिक मतलब था जेनेटिक्स से परे या उससे ऊपर। वैडिंगटन भ्रूण विज्ञानी भी थे और जेनेटिक्स पर शोध वे इसी कोण से कर रहे थे। उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि जब एक युग्मनज के विभाजन से कई कोशिकाएं बनती हैं तो भ्रूण की इन एक जैसी कोशिकाओं का भविष्य क्या होगा यानी अंततः वे कौन सी कोशिका बनेंगी वह 'एपीजेनेटिक लैण्ड स्केप' और 'कैनेलाइजेशन' से तय होता है। उन्होंने 'एपिजेनेटिक लैण्ड स्केप' की कल्पना एक ऊंचे सम पहाड़ से नीचे जाने वाली कई पहाड़ियों और घाटियों से की। यदि एक पत्थर को बिलकुल ऊपर से लुढ़काया जाये तो उसके नीचे लुढ़कने पर कई घाटियों में जाने की संभावना होती है। वह किस घाटी में अंत में नीचे पहुंचेगा वह उसके लुढ़कने के रास्ते पर, उसकी अपनी संरचना पर तथा बीच की पहाड़ियों और घाटियों पर निर्भर करेगा। एक बार नीचे पहुंच जाने पर उसको वापस ऊपर ले जाना और फिर किसी दूसरी घाटी में ढकेलना बहुत मुश्किल काम है। उससे भी ज्यादा मुश्किल है उसे एक घाटी से सीधे बीच की पहाड़ी पर ले जाकर बगल की घाटी में ढकेलना।

भ्रूण की बिलकुल शुरुआती कोशिकाएं एक जैसी या लगभग एक जैसी होती हैं। फिर वे किसी खास अंग की कोशिका में विकसित होने का रास्ता ग्रहण करती हैं। बिलकुल शुरुआती दौर में तो उनका रास्ता तब भी बदला जा सकता है पर जैसे-जैसे वे रास्ते पर आगे बढ़ती जाती हैं उनका रास्ता ज्यादा निश्चित होता जाता है। उनके इस निश्चित रास्ते पर विकास को वैडिंगटन ने 'कैनेलाइजेशन' (नहरीकरण) कहा। उनके रास्ते का थोड़ा-बहुत विचलन उनकी अंतिम गति को प्रभावित नहीं करता।

वैडिंगटन के 'एपीजेनेटिक लैण्डस्केप' और कैनेलाइजेशन' की अवधारणा ने भ्रूण की कोशिकाओं के विभेदीकरण तथा उनके एक निश्चित दिशा में विकास की एक आम तस्वीर पेश की। इसने यह भी समझना संभव बनाया कि क्यों बाहरी वातावरण में थोड़ा परिवर्तन तो जीव के विकास को गुणात्मक तौर पर प्रभावित नहीं करता है पर बड़ा परिवर्तन यह कर जाता है। वैडिंगटन ने यह भी बताया कि कैनेलाइजेशन का जेनेटिक आधार यह है कि फीनोटाइप जीनो टाइप के बहुत सघन नेटवर्क का परिणाम होता है। इसलिए जीनोटाइप में कुछ परिवर्तन या उसकी अभिव्यक्ति (जीन से प्रोटीन का निर्माण) में कुछ परिवर्तन से फीनोटाइप प्रभावित नहीं होता।

वैडिंगटन ने 'एपिजेनेटिक्स' का एक आम मेकेनिज्म ही पेश किया था। अभी जीन की आणविक संरचना और जीन अभिव्यक्ति का आणविक मेकेनिज्म स्पष्ट नहीं था इसलिए तब इससे ज्यादा नहीं किया जा सकता था।

उस समय आनुवंशिकी इस कदर जीन अपचयनवादी थी कि वह जीन के अलावा कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थी। इसीलिए वैडिंगटन के एपीजेनेटिक्स के सिद्धान्त को नजरअंदाज कर दिया गया। ('आधुनिक संश्लेषण' में प्रमुख भूमिका निभाने वाले थियोडोसस डोब्जान्स्की और आर्न्स्ट मायर दोनों ने इसे इस आधार पर नकार दिया कि यह लामार्कवाद को सही ठहराता है)। इसमें शीत युद्ध के पूरे माहौल और आनुवंशिकी के बारे में उस बहस का बहुत अहं योगदान था जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। जब अमेरिका में प्रसिद्ध आनुवंशिकविद् एल सी दुन इस कारण खुफिया एजेन्सियों के उत्पीड़न झेल रहे हों कि वे लीसेंको की भौड़ी निन्दा करने को तैयार नहीं थे और राल्फ स्पिट्जर को नौकरी से इसलिए हाथ धोना पड़ा हो कि वे कह रहे थे कि लीसेंको की खाली भर्त्सना करने के बदले उनकी 1948 की रिपोर्ट को प्रकाशित कर उस पर बहस होनी चाहिए तो माहौल का अंदाज लगाया जा सकता है। पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया में लोग आनुवंशिकी में धर्म विरोधी बात कहने-सुनने से बच रहे थे और इक्का-दुक्का-धर्म-द्रोहियों को कड़ी सजाएं दी जा रही थीं।

पर आणविक विज्ञान के विकास से 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध से स्थितियां बदलने लगीं और इसने अगले दशक में जोर पकड़ा। फिर तो मानो बांध टूट गया। नयी शताब्दी में एपिजेनेटिक्स न केवल खूब चलन में आ गई बल्कि आज तो वह फैशन में भी है। कठोर जीन अपचयनवादी रिचर्ड डाकिन्स ने इससे चिढ़कर 2009 में टिप्पणी की थी कि 'इसे अपनी पन्द्रह मिनट की प्रसिद्धि का लुत्फ

उठा लेने दो'। 1970-80 के दशक में एपीजेनेटिक्स के उत्थान का कारण यह हो सकता है कि सोवियत संघ में लीसेंको के अवसान के बाद में इस क्षेत्र में शीत युद्ध का वह माहौल नहीं रह गया। और 1980 के दशक में सोवियत संघ के पश्चिमी साम्राज्यवादियों के सामने आत्म समर्पण के बाद तो सारा माहौल ही बदलने लगा। शीत युद्ध केवल राजनीतिक-सामरिक क्षेत्र में ही नहीं था। यह सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में भी था। विज्ञान भी इससे बुरी तरह प्रभावित हुआ, खासकर आनुवंशिकी विज्ञान।

पिछले तीन-चार दशकों के विकास के बाद एपिजेनेटिक्स जहां पहुंचा है उसे संक्षेप में इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

एपिजेनेटिक्स को संकीर्ण और व्यापक दोनों अर्थों में देखा जा सकता है। संकीर्ण अर्थों में एपिजेनेटिक्स का मतलब है डी एन ए अणु की संरचना में परिवर्तन और उसका नियमन। व्यापक अर्थ में मतलब है इसके साथ ही उन क्रिया-विधियों को हिसाब में लेना जो कोशिका द्रव्य में होती है।

पहले संकीर्ण अर्थों में एपिजेनेटिक्स को लें।

जैसा कि पहले बताया गया है डी एन ए अणु की संरचना में केवल इतना ही नहीं होता कि उसमें AGCT का क्रम होता है। इस मूल संरचना के साथ उसमें और भी होता है, खासकर हिस्टोन प्रोटीन। असल में AGCT के क्रम की दोहरी कुण्डली हिस्टोन प्रोटीन के गोलों पर लिपटी होती है। इन सबसे अंत में जो संरचना सामने आती है वह क्रोमैटिन कहलाती है। डी एन ए की क्रिया विधि में क्रोमैटिन की संरचना की अहं भूमिका होती है। जहां जीन में AGCT के क्रम संबंधित प्रोटीन में अमीनो एसिड के क्रम को निर्धारित करते हैं वहीं क्रोमैटिन संरचना यह तय करती है कि जीन से संदेशवाहक आर एन ए का निर्माण होगा कि नहीं। यानी जीन के 'ऑन', 'ऑफ' का मेकेनिज्म इससे तय होता है। इस मेकेनिज्म को 'क्रोमैटिन मार्क्स' कहते हैं।

'क्रोमैटिन मार्क्स' (क्रोमैटिन चिह्न) कई तरह के होते हैं और कई भूमिकाएं निभाते हैं। मिथाइलेशन, डी एसीटाइलेशन, प्रोटीन मार्क्स, हिस्टोन मार्क्स इनमें प्रमुख हैं। जैसा कि नामों से स्पष्ट है मिथाइलेशन में मिथाइल ग्रुप डी एन ए से जुड़ जाता है जबकि डी एसीटाइलेशन में एसीटाइल ग्रुप उससे अलग हो जाता है। प्रोटीन मार्क्स और हिस्टोन मार्क्स में या तो ये प्रोटीन डी एन ए से जुड़ जाते हैं या उनमें कोई परिवर्तन हो जाता है ये एसी क्रिया का आरम्भ करते हैं जिससे जीन 'ऑन' या 'ऑफ' हो जाता है। यानी या तो उससे संबंधित प्रोटीन का निर्माण होने लगता है या वह बंद हो जाता है।

इन 'क्रोमैटिन मार्क्स' की खासियत है कि ये अर्द्ध-स्थाई होते हैं यानी जब दैहिक कोशिका विभाजित होती है तो ये दोनों नयी कोशिकाओं में स्थांनांतरित हो जाते हैं। यही नही,यह पाया गया है कि कई मामलों में ये अगली पीढ़ी में भी स्थानांतरित हो जाते हैं यानी किसी तरह से प्रभाव जनन कोशिका में भी पहुंच जाता है और अगली पीढ़ी में स्थानांतरित हो जाता है।

'क्रोमैटिन मार्क्स' के मेकेनिज्म से न केवल यह पता चलता है कि कोशिकाएं कैसे भ्रूण में विभेदित होती हैं बल्कि यह भी पता चलता है कि विकसित होता भ्रूण या बाद का जीव कैसे अपने वातावरण से प्रतिक्रिया करता है। इससे 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के संभावित मेकेनिज्म का भी पता चलता है। यह देखते हुए कि 'क्रोमैटिन मार्क्स' की यह सारी व्यवस्था उत्प्रेरकों के रूप में प्रोटीन द्वारा संचालित की जाती है, सक्रिय व निष्क्रिय अणु, निर्धारक व निर्धारित अणु के बारे में इससे ज्यादा स्पष्टता मिलती है।

यहां विषयांतर कर एक बात कर लेना होगा। यदि ध्यान न दें तो लगता है कि शुक्राणु और अण्डाणु के मिलकर युग्मनज बनने में महज इतना होता है कि दोनों केन्द्रकों के क्रोमोसोम मिलकर पूरा जोड़ा क्रोमोसोम बना लेते हैं और फिर इन पर मौजूद जीन अण्डाणु के कोशिका द्रव्य के कच्चे माल का इस्तेमाल कर नया जीव बनाना शुरू कर देते हैं। लेकिन असल मामला एकदम भिन्न है। अण्डाणु खुद एक विशेष कोशिका होता है और इसकी विशेष संरचना होती है। उसमें विशेष प्रकार के प्रोटीन मौजूद होते हैं। शुक्राणु के केन्द्रक के अण्डाणु में प्रवेश करते ही इन प्रोटीन के द्वारा निश्चित क्रियाएं शुरू हो जाती हैं। इनमें शुरुआत नियामक जीन को 'ऑन' करना भी शामिल है। यदि अण्डाणु की विशेषीकृत मशीनरी न हो तो केवल क्रोमोसोम के जोड़े कुछ नहीं कर सकते।

यहीं से अन्य तरह के ऐपिजेनेटिक मेकेनिज्म पर आते हैं। इसमें से एक है खुद को बनाये रखने वाला चक्र। किसी नियामक से कोई जीन 'ऑन' हो जाता है और उससे कोई प्रोटीन बनता है। फिर इस प्रोटीन की उपस्थिति ही यह सुनिश्चित करती है वह जीन 'ऑन' रहे। इस तरह यह चक्र निरंतर हो जाता है। जब कोशिका निभाजित भी हो जाती है तब भी चूंकि नयी कोशिकाओं में वह प्रोटीन मौजूद रहता है इसलिए चक्र चलता रहता है।

एक दूसरा मेकेनिज्म है सांचे का मेकेनिज्म। इसमें कोशिका में मौजूद किसी आर्गनेल (कोशिकांग) की संरचना ही उसके जैसे अन्य के निर्माण के लिए सांचे का काम करती है। (डी एन ए की प्रतिकृति के मामले में भी ऐसा ही होता है) चूंकि कोशिका विभाजन में ये आर्गनेल स्थानांतरित होते रहते हैं इसलिए यह मेकेनिज्म भी स्थानांतरित होता रहता है। एक कोशिकीय जीवों में तो यह वंशागति का मेकेनिज्म भी हो जाता है क्योंकि परिवर्तन अगली पीढ़ी में चला जाता है।

एक अन्य महत्वपूर्ण मेकेनिज्म है हस्तक्षेपी आर एन ए का। इनका काम है किसी खास जीन को चुप करना या उसे निष्क्रिय कर देना। ये न केवल संबंधित जीन को निष्क्रिय करते हैं बल्कि उससे बने संदेशवाहक आर एन ए को भी विखंडित कर देते हैं। यहीं पर यह रेखांकित करना होगा कि जीन नियमन में आर एन ए महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वे जीन को 'ऑन', 'ऑफ' करते हैं। अक्सर ही जीन के पास वाला डी एन ए का हिस्सा उसका नियामक हिस्सा होता है। या तो उससे नियामक आर एन ए बनते हैं जो उचित जगह जुड़ते हैं या फिर अन्य अणु (प्रोटीन, मिथाइल ग्रुप इत्यादि) जुड़ते हैं। हस्तक्षेपी आर एन ए की एक खासियत यह होती है कि छोटे होने के चलते वे एक कोशिका से दूसरी कोशिका में जा सकते हैं। दैहिक कोशिकाओं में होने वाले परिवर्तन का जनन कोशिकाओं तक संचरण का यह एक संभावित मेकेनिज्म हो सकता है। कलमी संकरण में मिश्रित गुणों वाली संकर प्रजाति का पैदा

होना भी आर एन ए संचरण का परिणाम हो सकता है। यदि यह संचरण पूरी तरह से प्रमाणित हो जाता है तो 'अर्जित लक्षणों' की वंशागति' का रहस्य सुलझ जायेगा।

ऊपर एपिजेनेटिक्स का जो बेहद संक्षिप्त और सरलीकृत वर्णन किया गया है उससे भी स्पष्ट है कि यह जीन, जीव और वातावरण की ज्यादा बेहतर तस्वीर पेश करता है। इसमें विभिन्न स्तरों की अंतर्क्रिया पर ज्यादा जोर है। यह उतना एकतरफा भी नहीं है। इसमें डी एन ए या जीन पूर्ण नियामक न होकर बहुत सारे नियामकों में से केवल एक है। इसमें कोई एक (जीन) प्रस्थान बिन्दु नहीं है बल्कि कई सारे प्रस्थान बिन्दु हैं। मसलन युग्मनज से नये जीव के निर्माण में अण्डाणु की कोशिकीय मशीनरी
(खासकर उसके कुछ विशेष प्रोटीन) प्रमुख प्रस्थान बिंदु है। यह देखते हुए कि

एपिजेनिटिक मेकेनिज्म के जरिये वंशागति के प्रमाण बढ़ते ही जा रहे हैं, यह आनुवंशिकी, जैव विकास और समूचे जीवन की समझदारी को गुणात्मक रूप से बदल देगा।

कहा जाता है कि एपिजेनेटिक्स आनुवंशिकी को चाहे जितना संशोधित कर रहा हो, पर है वह आनुवंशिकी की पूरक ही। यदि सौ सालों में आनुवंशिकी का विकास नहीं हुआ होता तो एपिजिनेटिक्स का भी विकास नहीं होता। यह सच है। पर साथ ही दूसरा सच भी है।

कोई जरूरी नहीं था कि आनुवंशिकी का एकतरफा ढंग से ही विकास होता। संपूर्ण को समझने के लिए अंश की समझदारी जरूरी है। पर अंशों को भी संपूर्ण पर ध्यान रखते हुए और उसके संदर्भ में ही बेहतर समझा जा सकता है। कई बार संपूर्ण का अंशों में विभाजन ही उनकी समझदारी को मुश्किल या यहां तक कि नामुमकिन बना देता है। कोई जरूरी नहीं था कि आनुवंशिकी के विकास में भ्रूण विज्ञान या विकास विज्ञान को नजरअंदाज किया जाता। जरूरी नहीं था कि वैडिंगटन के प्रस्तावों को नजरअंदाज किया जाता। जरूरी नहीं था कि प्राकृतिक वरण को केवल जीन के स्तर तक सीमित किया जाता। जरूरी नहीं था कि लामार्क को सही ठहराने वाले प्रयोगों को नकारा जाता। पर ऐसा किया गया। परिणाम यह निकला कि आनुवंशिकी बेहद एकतरफा और अपूर्ण रूप से विकसित हुई। और इसके प्रभाव में जैव विकास का सिद्धान्त भी।

आज इवो-डिवो (इवोल्यूशन और डिवलपमैन्ट) जीव विज्ञान की तेजी से उभरती हुई शाखा है। इवो-डिवो इस बात का अध्ययन करता है कि जीवों के विकास की प्रक्रिया का विकास कैसे हुआ। सारे बहुकोशिकीय जीव अपना जीवन एक कोशिका से शुरू करते हैं। थोड़े से बहुकोशीय जीव कोशिकाओं के समुच्चय भर हैं। पर ज्यादातर बहुकोशीय जीव (वनस्पति, जन्तु सब) एक कोशिका से भांति-भांति की कोशिकाओं का एक जटिल तंत्र बनाते हैं जिनमें भांति-भांति की कोशिकाएं ऊतकों और अंगों का निर्माण करती हैं। एक कोशिका से अंगों के निर्माण तक की क्रिया भ्रूण व शिशु निर्माण की क्रिया है। यह एक जटिल क्रिया-विधि से सम्पन्न होता है। खुद इस क्रिया-विधि का कभी विकास हुआ होगा जब जटिल बहुकोशिकीय जीव अस्तित्व में आये होंगे। बाद में और जटिलतर जीवों के विकास से इसमें और भी विकास हुआ होगा। इवो-डिवो स्वयं इसी क्रिया-विधि के विकास का अध्ययन करता है।

इस क्रिया-विधि के अध्ययन ने वैडिंगटन के एपीजेनेटिक लैण्डस्केप तथा कैनेलाइजेशन की अवधारणाओं को और स्पष्टता प्रदान की है तथा यह दिखाया है कि जैव विकास किस तरह सीमाबद्ध रहा है। यानी जैव विकास में पूर्ण यादृच्छिकता या संयोग का बोलबाला नहीं रहा है जैसा कि आनुवंशिकी कहती थी। विकास की क्रिया-विधि ही इसकी सीमा बांध देती है। भ्रूण विकास में किसी भी बिन्दु पर स्थापित रास्ते से बहुत ज्यादा विचलन भ्रूण को नष्ट कर देगा। विभिन्न फाइलम में भ्रूण विकास की क्रिया-विधि कुछ भिन्नता लिए हुए है तो बहुत ज्यादा संरक्षित भी। एक फाइलम के भीतर क्रिया-विधि में कुछ परिवर्तन की इजाजत रही है पर 'फाइलोटिपिक' चरण संरक्षित रहा है।

इवो-डिवो में जीन के स्तर पर अध्ययन करने पर पता चला कि उन्हीं नियामक जीन को भांति-भांति के तरीके से इस्तेमाल किया गया है। एक में उनकी एक भूमिका है, दूसरे में दूसरी। कुछ बिलकुल शुरुआती नियामक जीन ऐसे भी हैं जो सबमें संरक्षित हैं खासकर होमियोबाक्स जीन। उन्ही जीन का भांति-भांति से इस्तेमाल आनुवंशिकी में एकदम अलग आयाम जोड़ देता है।

कहा जाता है कि जैव विकास बेहद अवसरवादी रहा है। ऐसा नहीं है कि जीवों में हर चीज संपूर्ण **(perfect)** है और हर चीज किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए पैदा हुई है तथा अनुकूलित है। इसके विपरीत अक्सर ही ऐसा हुआ है कि एक आवश्यकता को पूरा करने के लिए पैदा हुई चीज दूसरे काम में इस्तेमाल कर ली गई है। ऊपर विकास की क्रिया-विधि में प्रयुक्त जीन का जिक्र किया जा चुका है। अक्सर तो यह भी हुआ है कि कोई चीज किसी अन्य का उप-उत्पाद हो और वह इस्तेमाल कर ली गई हो। इस तरह के उपयोग में संपूर्णता की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। स्टीफन गोल्ड और रिचर्ड लिवोन्टिन ने इस तरह के विकास को स्पैन्ड्रेल माडल नाम दिया था। स्पैन्ड्रेल किसी चौकोर घर के ऊपर गोल गुंबद से चारों कोनों में बनने वाले तिकोने को कहा जाता है। सिस्टीन के प्रसिद्ध गिरिजाघर में माइकेलेन्जेलो ने इतनी खूबसूरती से चित्रकारी की थी कि लगता है कि स्पैन्ड्रेल खास उन चित्रों के लिए ही बनाये गये थे जबकि हकीकत यह है कि वे चार सीधी दीवारों के ऊपर गोल गुंबद से पैदा बेढ़ब उप-उत्पाद मात्र थे।

जैव विकास के बारे में उपरोक्त बातें और स्पैन्ड्रेल माडल केवल इसी बात को रेखांकित करता है कि अनुकूलन और जीन के स्तर पर प्राकृतिक वरण का माडल जैव विकास की बेहद एकांगी तस्वीर पेश करता है। यह बात तब और गंभीरता ग्रहण कर लेती है जब यह याद रखा जाये कि प्राकृतिक वरण केवल जीन या जीव के स्तर पर नहीं होता। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है प्राकृतिक वरण जीवों के विकास की क्रिया-विधि के स्तर पर भी हुआ है। यह कोशिकाओं के स्तर पर भी हुआ है। ऊपर चलें तो यह प्रजातियों

और अन्य संवर्गों के स्तर पर भी हुआ है। इन सारे स्तरों पर प्राकृतिक वरण को नकार कर जैव विकास को केवल जीन तक सीमित कर देना हद दर्जे का अपचयनवाद है।

अंत में 'पंक्चुएटेड इक्विलिब्रियम' यानी समय-समय पर संतुलन। अब यह धरती के इतिहास का स्थापित तथ्य है कि इस पर मौजूद जीवन का समय-समय पर व्यापक विनाश या विलोप होता रहा है। अनुमान है कि धरती पर अभी तक पैदा हुई कुल प्रजातियों में से 99.99 प्रतिशत विलुप्त हो गई हैं। औसतन एक प्रजाति के जीवन काल को 1 करोड़ साल आंका गया है। यह सच है कि कैम्ब्रियन काल में बहुकोशिकीय जन्तुओं के जो 35 फाइलम अस्तित्व में आये थे वे सारे अभी मौजूद हैं (इसमें से केवल सात ही जमीन के वासी हैं) पर इनमें प्रजातियों की संख्या बहुत विषम है। अतीत में इनमें पता नहीं कितनी प्रजातियां अस्तित्व में आईं और चली गईं।

पंक्चुएटेड इक्विलिब्रियम की अवधारणा यह कहती है कि धरती पर प्रजातियों (और ऊपरी संवर्गों का भी) का पैदा होना या लुप्त होना सम गति से नहीं होता। इसमें लम्बे समय तक स्थिरता या स्थायित्व रहता है और फिर झटके से नयी प्रजातियां अस्तित्व में आ जाती हैं। इसी तरह विलोपन भी झटके से होता है। (प्रजातियों का व्यापक विलोपन व्यापक पैमाने पर नयी प्रजातियों के विकास के लिए रास्ता खोलता है जो अक्सर भिन्न स्तर की होती हैं) बड़ी प्राकृतिक घटनाएं इसमें सहायक की भूमिका निभाती हैं। यदि धरती पर जैव विकास को सही तरीके से समझना हो तो इसे हिसाब में लेना होगा। इसमें संरक्षण भी है और बदलाव भी, सीमा बद्धता भी है और यादृच्छिकता भी।

इस खंड में आखिर में एक बात डी एन ए और प्रोटीन के बारे में। आनुवंशिकी में यह मानी हुई बात है कि जीन प्रोटीन का निर्धारण करता है और उसके जरिये विशेषता (trait) का। इसी के साथ वह स्वयं की भी प्रतिलिपि बनाता है यानी उसमें स्व-प्रतिकृति का गुण है। इसीलिए कहा जाता है कि डी एन ए जैविक जगत का सर्वप्रमुख अणु है। पर क्या वास्तव में ऐसा है?

जैसा कि ऊपर कई जगह कहा गया है, प्रोटीन जैविक जगत में सबसे सक्रिय अणु है। उत्प्रेरक के तौर पर या उत्प्रेरक के मुख्य घटक के तौर पर वह जीवों की सारी क्रियाओं में मौजूद होता है। उसके बिना ये क्रियाएं चल नहीं सकती और जीवन खत्म हो जायेगा। वास्तव में मृत्यु के समय होता भी यही है। प्रोटीन अणु निष्क्रिय हो जाते हैं और सारी क्रियाएं बहुत धीमी गति से चलती हुई क्रमशः बन्द होती चली जाती हैं।

स्वयं डी एन ए और जीन के स्तर पर देखें तो वहां भी सारा कुछ प्रोटीन अणु ही संचालित करते हैं। यह कहना गलत है कि डी एन ए अणु अपनी प्रतिकृति खुद बनाते हैं। बल्कि यह प्रोटीन करते हैं। प्रतिकृति की सारी मशीनरी प्रोटीन संचालित है। प्रोटीन ही डी एन ए कुण्डलियों को खोलते हैं, वे ही AGCT के नये क्रम को जोड़ते हैं, वे ही उसमें गलती को ठीक करते हैं, इत्यादि इत्यादि। इसी तरह जीन से संदेशवाहक आर एन ए बनाने का सारा काम भी प्रोटीन ही संपन्न करते हैं। ध्यान से देखें तो जीन में मौजूद कोड से प्रोटीन बनाने का काम भी प्रोटीन ही करते हैं। जीन में मौजूद प्रोटीन के अमीनो एसिड के क्रम का कोड केवल रिकार्ड का काम करता है। इसीलिए स्टीफन गोल्ड डी एन ए और जीन को केवल बुककीपिंग या हिसाब-किताब रखना कहते हैं।

जैसा कि पहले बताया गया है इंसानों में करीब बीस हजार जीन से करीब एक लाख संरचनात्मक प्रोटीन और करीब दस लाख कार्यकारी प्रोटीन बनते हैं। यानी जीन और कार्यकारी प्रोटीन का अनुपात एक और पचास का है। एक से पचास बनाने का कमाल जीन नहीं दिखाते बल्कि स्वयं प्रोटीन दिखाते हैं। बल्कि यह प्रोटियोम (प्रोटीन का समुच्चय) की बहुत बड़ी कुशलता है कि वह अपने पचास रूपों के लिए एक कोड से काम चला लेता है।

संरचना और कार्य दोनों में प्रोटीन प्रमुख जैविक अणु है। यहां तक कि मात्रा के हिसाब से भी वे प्रमुख हैं। कोशिका में 70-90 प्रतिशत पानी के अलावा जो अन्य तरह के अणु होते हैं उनमें प्रोटीन सबसे ज्यादा, करीब 10-15 प्रतिशत होते हैं। प्रोटीन अपने त्रिआयामी रूप में ही कार्य करते हैं। यह त्रिआयामी रूप किसी प्रोटीन में अमीनो एसिड क्रम, अन्य तरह के अणु तथा स्वयं दूसरे प्रोटीन से अंतर्क्रिया पर निर्भर करता है। एक अमीनो एसिड शृंखला से कई तरह के कार्यकारी प्रोटीन के निर्माण का ही नतीजा होता है कि जीव बहुत भांति-भांति की स्थितियों का सामना कर लेता है। भीतरी और बाहरी लगातार बदलती स्थितियों से निपटना इससे संभव हो जाता है। जीनोटाइप में बिना परिवर्तन हुए बदलते वातावरण के हिसाब से बदलते फीनोटाइप का निर्माण इसी के जरिये संभव हो जाता है।

जैविक जगत में संरचना और कार्य दोनों में प्रोटीन की प्रधानता को देखते हुए यह अजीब लगता है कि प्रोटीन के ऊपर डी एन ए या जीन को प्रधानता दी गई। पर यह बुर्जुआ मिजाज के अनुरूप है जो हर चीज में अंतिम संरचनात्मक तत्व ढूंढ़ता है। यह बुर्जुआ विचारधारा के अनुरूप भी था कि एक अपरिवर्तनीय जीन को, जो जीव के जीवन और वातावरण से स्वतंत्र हो, अंतिम निर्णायक तत्व मान लिया गया। आणविक विज्ञान का 'सेन्ट्रल डोग्मा' असल में बुर्जुआ वर्ग के 'सेन्ट्रल डोग्मा' का परिणाम था। यह जैविक जगत के तथ्य और सत्य की एक खास तरह की व्याख्या थी।

IV

द्वन्द्ववाद और आनुवंशिकी

द्वन्द्ववाद का मूल तत्व है वैपरीत्यों की एकता। वैपरीत्यों की एकता में एकता और संघर्ष दोनों होता है। संघर्ष का एक रूप क्रिया-प्रतिक्रिया का भी होता है जिसमें अंतर्विरोध के दोनों पहलू एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और प्रभावित होते हैं। लेकिन दोनों पहलू बराबर अवस्था में नहीं होते। एक पहलू निर्णायक होता है तो दूसरा केवल प्रभावित करने वाला। हालांकि विकास के साथ दोनों का स्थान बदल सकता है। निर्णायक अनिर्णायक हो जाता है और अनिर्णायक निर्णायक। यही नहीं दोनों पहलू एक-दूसरे में अंतः प्रवेश भी करते हैं यानी एक की विशेषताएं दूसरे में आंतरीकृत हो जाती हैं। यह कैसे होता है यह दोनों पहलुओं के खास चरित्र से तय होता है।

जीव और इसके वातावरण के एक सामान्य उदाहरण को लें। आनुवंशिकी में दोनों के संबंध को स्वीकार तो किया गया मगर कुछ इस रूप में कि दोनों बिलकुल अलहदा हों और खास अवस्था में ही आपस में अंतर्क्रिया कर रहे हों। इसीलिए दोनों के संबंध की छन्नी से छानने से क्रिया से तुलना की गई। वातावरण जीवों को छान डालता है और सबसे अनुकूल का वरण हो जाता है। छानने की क्रिया में छन्नी और छानी जाने वाली चीज अलग-अलग अस्तित्व में आई होती हैं। उनका संबन्ध केवल छाने जाने की क्रिया के दौरान ही होता है। यह संबंध भी किसी तीसरे के हस्तक्षेप के द्वारा कायम होता है। पर जीवों और वातावरण का संबंध ऐसा नहीं होता। ऐसा केवल अपवाद स्वरूप स्थितियों में ही होता है-जब जीव किसी भिन्न वातावरण में चल कर पहुंच जाये या फिर किसी बहुत वड़ी प्राकृतिक घटना के कारण वातावरण तेजी के साथ पूरी तरह बदल जाये। ऐसी स्थितियों में सामान्य डार्विनवादी जैव विकास नहीं हो सकता जैसा कि आनुवंशिकी मान कर चलती है। सामान्य अवस्था में जीव किसी वातावरण में अस्तित्व में आता है और उसी के लिए अनुकूलित होता है। इस प्रक्रिया में वह बाहर की स्थितियों को अंतरीकृत कर लेता है। वह बाहर से कौन से पदार्थ को लेकर कैसे उपयोग करेगा यह उसी का एक उदाहरण है। लेकिन जीव साथ ही दूसरा काम भी करता है। वह अपने पास एक वातावरण पैदा करता है। इस तरह वह आंतरिक स्थितियों का बहिर्करण करता है। हर जीव का अपना एक वातवरण होता है और वह प्राकृतिक होने के साथ उसकी अपनी गतिविधियों की भी पैदाइश होता है। आज मिट्टी से लेकर हवा तक और समुद्र से लेकर पर्वत तक जो भी संरचना और वातावरण है उसमें धरती पर जीवन की अहं भूमिका है। यही बात अत्यन्त स्थानीय स्तर पर भी सच है। सूक्ष्म और वृहद, स्थानीय और व्यापक दोनों स्तर पर धरती पर वातावरण को इस पर मौजूद जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों न केवल एक दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं बल्कि दोनों एक-दूसरे की पैदाइश हैं और एक-दूसरे में अंतर्वेशित हैं। इन अर्थों में पर्यावरणवादियों के शुद्ध पर्यावरण जैसी कोई चीज नहीं है।

अब ज्यादा विवादस्पद सवाल यानी जीन और प्रोटीन के सवाल को लें। इसका 'सेन्ट्रल डोग्मा' यह है कि जीन (डी एन ए) प्रोटीन को निर्धारित करता है पर प्रोटीन पलट कर जीन को नहीं बदल सकता। कहा जाता है कि फ्रांसिस क्रिक ने कहा था कि इसका एक भी उदाहरण समूचे आणविक जीव विज्ञान को ध्वस्त कर देगा। आनुवंशिकी में इस 'सेन्ट्रल डोग्मा' का मतलब यह हुआ कि जीनोटाइप तो फीनोटाइप को निर्धारित करता है पर फीनोटाइप पलटकर जीनोटाइप पर प्रतिक्रिया नहीं कर सकता, इस अर्थ में कि प्रभावित कर दे या बदल दे। इसी आधार पर लामार्कवाद को कूड़ेदान में डाल दिया गया। इसके हिसाब से 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' असंभव है।

पर आज भी हम डी एन ए, जीन, जीन नियमन, प्रोटीन, फीनोटाइप इत्यादि के बारे में जो कुछ जानते हैं उससे क्या तस्वीर उभरती है? आज हम जानते हैं कि डी एन ए और प्रोटीन में यदि कोई सीधा संबंध है तो बस इतना ही कि डी एन ए के किसी हिस्से पर AGCT के क्रम किसी खास प्रोटीन के अमीनो एसिड क्रम से ताल्लुक रखते हैं। डी एन ए के कोडोन प्रोटीन के अमीनो एसिड क्रम को इंगित करते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि ये क्रम प्रोटीन का निर्माण तय करते हैं। प्रोटीन के निर्माण में ये कोडोन क्रम महत्वपूर्ण किन्तु सीमित भूमिका ही निभाते हैं। असल में प्रोटीन का निर्माण डी एन ए अणु की खास क्रोमैटिन संरचना से तय होता है। इस संरचना से ही तय होगा कि कोई जीन 'ऑन' होगा या 'ऑफ होगा'। डी एन ए पर किसी कोडोन क्रम के मौजूद होने का मतलब नहीं है कि उसके अनुरूप प्रोटीन का निर्माण हो जायेगा। किसी प्रोटीन का निर्माण कब होगा, उसके निर्माण का रास्ता या 'पाथवे' क्या होगा, इसके लिए डी एन ए के कौन से हिस्से की संरचना में क्या परिवर्तन होगा यह सब डी एन ए के AGCT के क्रम या कोडोन क्रम तय नहीं करते। यही नहीं हम जानते हैं कि किसी जीन के पूरे क्रम में बीच में कई इंट्रान और स्टाप कोडोन होते हैं। इनको काट-छांट कर इससे किस प्रोटीन के लिए संदेशवाहक आर एन ए तैयार करना है, यह भी डी एन ए पर AGCT के क्रम से तय नहीं होता। अंत में यह कि, प्रोटीन की अमीनो एसिड संरचना (यानी उनका क्रम) आवश्यक तो है पर पर्याप्त नहीं। प्रोटीन अपने त्रिआयामी रूप में ही कार्य करता है। पर यह केवल उसके अमीनो एसिड के क्रम से तय नहीं होता। अन्य कारक मिलकर यह करते हैं। इसी से यह होता है कि मानव शरीर में एक ही अमीनो एसिड क्रम वाला प्रोटीन औसतन दस तरह के कार्यकारी प्रोटीन का काम करता है। एक जीन के AGCT के क्रम और पांच सरंचनात्मक प्रोटीन। एक जीन के AGCT के क्रम और पचास कार्यकारी प्रोटीन। यहां से देखें तो डी एन ए प्रोटीन का 'सेन्ट्रल डोग्मा' एकदम धुंधला हो जाता है। वह कुछ भी स्पष्ट नहीं कर पाता।

पर यहां महत्वपूर्ण मुद्दा यह नहीं है। यहां महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि क्या प्रोटीन पलटकर जीन को प्रभावित करता है? स्पष्ट है कि इसका उत्तर केवल हां में दिया जा सकता है। प्रोटीन केवल जीन पर मौजूद AGCT क्रम का उत्पाद नहीं है। इसमें समूचे डी एन ए अणु की क्रोमैटिन संरचना से लेकर संदेश वाहक आर एन ए के निर्माण तक बहुत सी क्रियाएं शामिल हैं। इसमें बहुत सारे प्रोटीन समेत कई अन्य अणु शामिल हैं। खास प्रोटीन के लिए खास संदेशवाहक आर एन ए तो इसका अंतिम उत्पाद है। ऐसे में या तो यह सवाल अप्रासंगिक हो जाता है कि क्या कोई प्रोटीन पलटकर अपने जीन को प्रभावित करता है या फिर सवाल यह बन जाता है कि क्या

किसी प्रोटीन निर्माण की समूची प्रक्रिया पलटकर डी एन ए अणु और उसकी अभिव्यक्ति को प्रभावित कर देती है। इसका उत्तर हां है। यहां एक बार फिर रेखांकित करना होगा कि डी एन ए की समूची क्रोमैटिन संरचना और प्रोटीन निर्माण की समूची क्रिया से स्वतंत्र किसी प्रोटीन के अमीनो एसिड क्रम के अनुरूप जीन में किसी AGCT क्रम का कोई मतलब नहीं है। यह स्वतंत्र रूप में तो न तो मौजूद रहता है और न ही कोई भूमिका निभाता है। (एक कोशिकीय जीवों में डी एन ए अपेक्षाकृत 'नंगे' रूप में मौजूद रहता है। पर उसमें तो नये जीव का निर्माण सीधे कोशिका विभाजन से होता है और दैहिक व जनन कोशिकाएं एक ही होती हैं। इसीलिए कोशिका द्रव्य के आर्गनेल या स्वयं डी एन ए में परिवर्तन सीधे अगली पीढ़ी में स्थानांतरित हो जाते हैं।) इसीलिए बहुत से जीव विज्ञान के दार्शनिक 'सेन्ट्रल डोग्मा' की सटीकपन या उपयोगिता पर ही सवाल उठा देते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रोटीन निर्माण जिन संरचनाओं और प्रक्रियाओं के तहत सम्पन्न होता है, प्रोटीन निर्माण पलटकर उनमें परिवर्तन कर देता है। यह केवल 'फीडबैक लूप' के जरिये नहीं होता। 'फीडबैक लूप' 'इंडक्सन' और 'सप्रेसन' का पता आनुवंशिकी को काफी पहले से है। यह अन्य तरीकों से होता है। आणविक जीव विज्ञान के विकास ने इस दिशा में काफी जानकारी हासिल की है। एपीजेनेटिक मेकेनिज्म एक रूप में देखें तो प्रोटीन और डी एन ए के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया को ज्यादा सटीकता से निरूपित करने वाले मेकेनिज्म के अलावा और कुछ नहीं है। इस मेकेनिज्म की जानकारी के बाद कोई यह नहीं कह सकता कि प्रोटीन निर्माण पलटकर डी एन ए को प्रभावित नहीं करता, कि डी एन ए प्रोटीन निर्माण की प्रक्रिया और परिणाम से अछूता रहता है।

कहने की बात नहीं कि डी एन ए और प्रोटीन एक दूसरे से कैसे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं यह दोनों के अपने चरित्र से तय होता है। दोनों एक ही तरह से ऐसा नहीं कर सकते। डी एन ए प्रोटीन की अमीनो एसिड संरचना के कोड के जरिये यह करता है तो प्रोटीन डी एन ए के साथ खुद को या किसी अन्य अणु को जोड़कर या हटाकर यह करता है। किसी खास मामले में अभी उत्पादित प्रोटीन ही यह करता है तो ज्यादातर मामलों में अन्य प्रोटीन। यह क्रिया-प्रतिक्रिया विशिष्ट तरीके से सम्पन्न होती है और इसका केवल विशिष्ट तरीके से ही अध्ययन किया जा सकता है। अमूर्त तौर पर केवल यही कहा जा सकता है कि प्रोटीन निर्माण की क्रिया पलटकर डी एन ए अणु में परिवर्तन कर देती है भले ही वह इसके AGCT क्रम में कोई परिवर्तन न करे (पर चूंकि AGCT क्रम अपने आप कुछ नहीं कर सकते इसलिए इस संदर्भ में यह अप्रासंगिक है)। यदि प्रोटीन की क्रिया पलटकर डी एन ए अणु को प्रभावित नहीं करती तो बहुकोशिकीय जीवों में कोशिकाओं का विभेदीकरण नहीं होता और जटिल जीवों का अस्तित्व संभव नहीं हो पाता। AGCT का क्रम वही बने रहते हुए भी डी एन ए अणु में परिवर्तन बहुकोशिकीय जीवन का आधार है।

कहा जा सकता है कि प्रोटीन निर्माण की प्रक्रिया पलटकर डी एन ए के AGCT क्रम में परिवर्तन नहीं कर सकती और यही तो मूल बात है। पर असल में मूल बात यह नहीं है। मूल बात यह है कि यह सारा ताम-झाम प्रोटीन निर्माण के लिए है। AGCT क्रम का अपने आप में महत्व नहीं है। महत्व इस बात में है कि इस क्रम से प्रोटीन कैसे निर्धारित होता है। हम देख आये हैं कि जीन के उसी AGCT क्रम से कई संरचनात्मक प्रोटीन का निर्माण हो सकता है और कार्यकारी प्रोटीन का तो उससे भी ज्यादा। जीन के उसी AGCT क्रम से कौन से संदेशवाहक आर एन ए बनेंगे यह वह क्रम तय नहीं करता। यह किसी प्रोटीन निर्माण की प्रक्रिया ही तय करती है। जीन में AGCT का वही क्रम रहते हुए भी व्यवहार में (आर एन ए निर्माण में) AGCT का क्रम बदल दिया जाता है। इसके कई संयोजन बना दिये जाते है। (यहां तक कि AGCT जोड़ या घटा दिये जाते हैं) यह पहले ही कहा जा चुका है कि व्यवहार में कोई पहलू दूसरे को कैसे प्रभावित करेगा यह दोनों की संरचना और कार्य पर निर्भर करता है। चूंकि AGCT का क्रम एक खास भूमिका अदा करता है इसलिए उसमें उसके खास ढंग से ही परिवर्तन हो सकता है। वंशागति के संदर्भ में उसमें कैसे परिवर्तन हो सकते हैं और होते हैं, इसकी आगे चर्चा की जायेगी।

पूछा जा सकता है कि डी एन ए और प्रोटीन में कौन प्रधान है और कौन गौण? प्रचलित आनुवंशिकी का उत्तर स्पष्ट है-डी एन ए प्रधान है। वही निर्धारक है। पर असल में सवाल अमूर्त है। सही उत्तर पाने के लिए सवाल में संदर्भ शामिल होना चाहिए। तब पता चलेगा कि अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग प्रधान और गौण हैं। आम अमूर्त स्तर पर पूरे जीवन के संदर्भ में बात की जाये तो प्रोटीन जीवन का प्रधान अणु है, वही जीवन का मुख्य संरचनात्मक और क्रियात्मक अणु है। यहां तक कि डी एन ए की प्रतिकृति, आर एन ए का निर्माण और अंततः प्रोटीन का निर्माण प्रोटीन अणु ही संचालित करते हैं। पर यदि पूछा जाय कि वंशागति में (चाहे एक कोशिका से दूसरी कोशिका में हो या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में) सूचनाओं को स्थानांतरित करने में प्रधान अणु कौन है तो स्पष्ट उत्तर मिलेगा-डी एन ए। डी एन ए के स्तर पर हिसाब-किताब रखा ही इसलिए जाता है कि वह बिना परिवर्तन हुए अगली कोशिका या अगली पीढ़ी तक पहुंच जाये। दिक्कत तब होती है जब पूरे जीवन को नजरअंदाज कर वंशागति को ही सब कुछ मान लिया जाता है। आनुवंशिकी में विजमान से लेकर रिचर्ड डाकिन्स तक यही प्रवृत्ति हावी है जिसमें मुख्य चीज है जनन कोशिका या जीन का अगली पीढ़ी में स्थानांतरण। इसमें जीव और उसका जीवन तो मात्र वाहक बन कर रह जाता है।

यहीं पर जीनोटाइप और फीनोटाइप के बीच संबंध पर आया जाये। आनुवंशिकी की शुरुआत में माना गया कि एक जीन एक विशेषता (ट्रेट या करेक्टर) को तय करता है। बाद में पता चला कि यह संबंध इतना सीधा नहीं है। कई जीन मिलकर एक विशेषता तय करते हैं और एक जीन कई विशेषताओं में प्रयुक्त हो सकता है। लेकिन इस सब में जीनोटाइप और फीनोटाइप का संबंध एकतरफा बना रहा: जीनोटाइप फीनोटाइप को तय करता है। वैडिंगटन के 'एपीजेनेटिक लैण्डस्केप' तथा 'कैनेलाइजेशन' की अवधारणाओं तथा आज की एपिजेनेटिक्स के माध्यम से हम यह जानते हैं कि जीनोटाइप और फीनोटाइप के बीच संबंध न तो सीधा-सपाट है और न ही एकतरफा। जीन के बहुत सारे नेटवर्क मिलकर एक जटिल झंकार के जरिये फीनोटाइप को पैदा करते हैं। इसमें किसी एक खास जीन

की सीमा बंध जाती है। यहां तक कि कुछ जीन की अनुपस्थिति भी फीनोटाइप को पैदा होने से नहीं रोक पाती। दूसरे, फीनोटाइप पलटकर जीनोटाइप की अभिव्यक्ति को प्रभावित कर देता हैं वह किसी जीन को चुप कर देता है तो किसी जीन को मुखर। यहां तक कि वह एक पूरे के पूरे क्रोमोसोम को भी चुप कर देता है। (XY क्रामोसोम वाले लैंगिक जीवों में XX क्रोमोसोम वाली मादा में हर दैहिक कोशिका में कोई एक X क्रोमोसोम चुप कर दिया जाता है।) फीनोटाइप का जीनोटाइप पर प्रभाव इस हद तक हो सकता है कि वह अगली पीढ़ी में वंशागति कर जाये। फीनोटाइप और जीनोटाइप के बीच कौन प्रधान है और कौन गौण? इसका भी जवाब यही है कि यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। आम तौर पर जीनोटाइप फीनोटाइप को निर्धारित करता है पर कई बार फीनोटाइप पलटकर जीनोटाइप को निर्धारित कर देता है। अक्सर यह होता है जब जीव तीखे दबाव की स्थिति में होता है यानी वह अपने अनुकूलित वातावरण से बहुत भिन्न वातावरण में विकसित हो रहा होता है या जी रहा होता है। तब लामार्कवादी जैव विकास की संभावना बहुत बढ़ जाती है।

यहां यह रेखांकित करना होगा कि फीनोटाइप के कई स्तर हैं और यह जीनोटाइप तथा फीनोटाइप के बीच के संबंध को बहुत जटिल बना देता है। युग्मनज से लेकर जीव के पूरे जीवन काल में डी एन ए में परिवर्तन (क्रोमैटिन संरचना में) उस स्तर पर फीनोटाइप है क्योंकि वह किसी जीन अभिव्यक्ति से सम्पन्न होता है। कोशिका के स्तर पर विभिन्न जैव अणुओं का निर्माण व कोशिकाओं का निर्माण फीनोटाइप है। भ्रूण निर्माण व विकास में इनकी अति महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस स्तर के ऊपर वह फिनोटाइप है जिसे आम चर्चा के समय जेहन में रखा जाता है यानी अंग, अंगों का समूह और समूचा जीव। जीनोटाइप व फीनोटाइप के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया में ये सारे स्तर शामिल होते हैं, खासकर डी एन ए व कोशिका के स्तर के फीनोटाइप जीनोटाइप को काफी बदल डालते हैं।

जहां तक जीव और उसके वातावरण के बीच संबंध का सवाल है, उसकी कुछ चर्चा पहले की जा चुकी है। जीव बाहर के वातावरण को अपने जीवन की संरचना और प्रक्रिया में आंतरीकृत करता है तथा बाहरी वातावरण में स्वयं को बहिर्कृत करता है। इसी प्रक्रिया में खास ट्रेट या करेक्टर का निर्माण होता है जो इन फीनोटाइप के अनुरूप जीनोटाइप हिसाब-किताब के रूप में डी एन ए में दर्ज होते हैं। (फीनोटाइप केवल जीव के स्तर के नहीं होते। वे कोशिका के स्तर के या यहां तक कि आणविक स्तर के भी हो सकते हैं)। जीव और वातावरण के बीच अंतर्क्रिया बहुत सारी चीजों पर निर्भर करती है और बहुत सारे रूपों में चलती है। पर उसका सार वही रहता है। ऐसा नहीं है कि जीव (या जीन) प्रस्तावित करता है तथा वातावरण निपटाता है, जैसा कि आनुवंशिकी कहती है। जीव वातावरण को इस रूप में ढाल सकता है कि उसके प्रस्ताव को वातावरण एक खास तरीके से ही निपटाये। केंचुआ जैसा निरीह जीव भी जब चाल कर मिट्टी को बदल डालता है तब उसके जीवन की एकदम भिन्न परिस्थितियां निर्मित हो जाती हैं। इसके उलटे जब घास-पात खाने वाले जानवर चर कर जमीन को बंजर बना डालते हैं तब वातावरण उनके प्रस्ताव को दूसरे तरह से ही निपटाता है। इस तरह प्राकृतिक वरण तो होता है पर इस 'प्रकृति' में स्वयं वरण किया जाने वाला जीव भी शामिल होता है। जीव का अनुकूलन तो होता है पर साथ ही वातावरण का भी जीव के हिसाब से अनुकूलन होता है। यानी अनुकूलन दोतरफा होता है। मानव शरीर में जीवाणुओं/विषाणुओं से लड़ने वाली प्रतिरोधी व्यवस्था (इम्यून सिस्टम) इसका अद्‌भुत उदाहरण है कि कैसे मानव शरीर की श्वेत रक्त कणिकाएं और हमला करने वाले जीवाणु/विषाणु एक दूसरे के हिसाब से लगातार स्वयं को बदलने की जंग लड़ते हैं। इसके लिए दोनों में क्रमशः प्रोटीन में परिवर्तन और जीन में उत्परिवर्तन की खास व्यवस्था ही पैदा हो गई है। दोनों बहुत शास्त्रीय ढंग से हमजाद हो जाते हैं।

द्वन्द्ववाद के बहुत सारे प्रवर्ग हैं: अंश और संपूर्ण, व्यक्ति और समूह, कार्य और कारण, वाह्य और आंतरिक, विश्लेषण और संश्लेषण, निचला स्तर और ऊपरी स्तर, मात्रा और गुण, संयोग और निश्चितता, याद्‌च्छिकता और सीमाबद्धता, स्थिरता और परिवर्तन, एकरूपता और विवेध, अंतर्भूत और प्रकटित, सतत और विविक्त, अस्तित्व में होना और अस्तित्व में आना, संरचना और प्रकार्य, रूप और अंतर्वस्तु, प्रगति और अवनति, आम और विशिष्ट, अमूर्त और ठोस इत्यादि। आनुवंशिकी की समस्या थी (और है) कि वह एकांगी होने के चलते इन विपरीत प्रवर्गों के बीच एक खास तरह की द्वैधता देखती थी और या तो यह भी, वह भी के रूप में पंचमेल खिचड़ी की तरह उन्हें स्वीकार करती थी या फिर एक को स्वीकार कर दूसरे को अपवर्जित कर देती थी। ये एक ही अंतर्विरोध के दो पहलू हैं और इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, वह इसे नहीं देख पाती थी। वह यह भी नहीं देख पाती थी कि दोनों विपरीत पहलू एक-दूसरे में अंतःप्रवेश कर जाते हैं।

आइये इन प्रवर्गों को एक-एक कर लें।

अंश और संपूर्ण में तथा व्यक्ति और समूह में एक खास तरह का संबंध होता है जो संबंधित चीज पर निर्भर करता है। वह बहुत दृढ़ता से जुड़ा हुआ एकीकृत संबंध भी हो सकता है तथा अपेक्षाकृत ढीला-ढाला भी। लेकिन सारी ही अवस्थाओं में अंश समूह पर तथा समूह अंश पर निर्भर करता है। उन्हें समझने के लिए तो अलग-अलग किया जा सकता है पर इसी प्रक्रिया में उनकी बहुत सी विशेषताएं धूमिल हो जाती हैं या खो जाती हैं। बहुत सचेत रहकर ही ऐसा होने को किसी हद तक रोका जा सकता है। आनुवंशिकी की दिक्कत यह रही है कि वह अपचयनवाद का शिकार होकर चीजों को अंशों तक या व्यक्तिगत तक समेटती रही है और मान लेती है कि अंशों या व्यक्तिगत की विशेषताओं से संपूर्ण या समूह की विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं। वह यह भूल जाती रही है कि एक और एक मिलकर दो नहीं बल्कि ग्यारह होते हैं। जब वह एक अकेले जीन पर या जीव पर केन्द्रित करती है और उससे समूचे जीव या प्रजाति के लिए निष्कर्ष निकालती है तो यही होता है। वह नहीं देख पाती कि जीनोम केवल जीन का समुच्चय नहीं है, कि कोशिका

भांति-भांति के आर्गनेल का जमावड़ा नहीं है, कि प्रजाति जीवों का समूह मात्र नहीं है, कि पूरा इकोसिस्टम किसी जगह मौजूद सारे पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का इकट्ठा होना मात्र नहीं है।

यहीं से बात संश्लेषण-विश्लेषण, निचले स्तर-ऊपरी स्तर और अंतर्भूत और प्रकट विशेषताओं पर आ जाती है। किसी भी चीज को समझने के लिए उसे अंशों में बांट कर अंशों को समझना जरूरी है। यदि अंशों में बंटवारा नीचे के स्तर की ओर ले जाता है तो उस स्तर की संरचना को समझना भी जरूरी है। पर उस स्तर पर अंश की समझदारी केवल आधी-अधूरी ही हो सकती है। पूरी समझदारी तभी हो सकती है जब वापस संश्लेषण की ओर बढ़ा जाय। तब न केवल संपूर्ण की बल्कि अंश की बेहतर समझदारी होगी। और तब पाया जायेगा कि संपूर्ण में कुछ विशेषताएं आ जाती हैं जो अंश में नहीं होतीं। इसी तरह ऊपरी स्तर पर ऐसी विशेषताएं प्रकट हो जाती हैं जो निचले स्तर पर नहीं होतीं। एक न्यूरान कोशिका में जो विशेषता होती है और इंसानी दिमाग में जो विशेषताएं होती हैं वे गुणात्मक तौर पर भिन्न होती हैं। जेरे बहस मुद्दे से संबंधित बात करें तो एक कोशिका में जो विशेषता होती है और एक बहु-कोशिकीय जीव में जो विशेषताएं होती हैं वे गुणात्मक तौर पर भिन्न होती हैं। वे इतनी भिन्न होती हैं कि युग्मनज की एक कोशिका से उनके विकास की पूरी मशीनरी ही अस्तित्व में आ जाती है। इस मशीनरी में केवल सामान्य कोशिका विभाजन नहीं होता। एक कोशिका और उसके विभाजन के मेकेनिज्म से इस जटिल मशीनरी को कभी नही समझा जा सकता। इसी तरह यह दावा एकदम गलत है कि यदि किसी जीव (मसलन इंसान) के सारे जीन में मौजूद प्रोटीन कोडोन को जान लिया जाये तो एक अतिशक्तिशाली कम्प्यूटर की मदद से उससे बनने वाले इंसान को जाना जा सकता है। पहली बात तो यह कि जीन में मौजूद प्रोटीन के कोड मात्र से प्रोटीन नहीं बनता। उसके साथ और बहुत सारी जानकारी और मशीनरी की आवश्यकता होती है। दूसरे, इन सारे प्रोटीन की मदद से जो जीव अस्तित्व में आता है वह न तो आर्गनेल का समुच्चय होता है और न ही कोशिकाओं का। वह एक भिन्न तरीके से स्तर-स्तर पर सुगठित (वृहद अणु, आर्गनेल, कोशिका, ऊतक, अंग, अंग समूह, मनुष्य) जीव होता है। जिसमें अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग विशेषतायें अस्तित्व में आती है। ये विशेषताएं प्रोटीन में नहीं होतीं और न ही उनकी संरचना और कार्य से जानी जा सकती हैं। यदि बुर्जुआ वैज्ञानिक और उनके द्वारा सृजित आनुवंशिकी इतनी अपचयनवादी नहीं होती तो इन बातों को देख पाना इतना मुश्किल काम नहीं होता। तब सभी चीजों को जीन या जीव तक अपचयित कर देने की प्रवृत्ति भी नहीं होती।

यदि संयोग और निश्चितता तथा यादृच्छिकता और सीमाबद्धता की बात करें, जो कि आनुवंशिकी में एक बड़े बहस का मुद्दा थीं, तो यहां भी इनके बीच वास्तविक संबंध की समझदारी का अभाव नजर आता है। संयोग निश्चितता में रूपान्तरित हो जाता है और निश्चितता में संयोग निहित है। संयोग निश्चितता में कैसे रूपान्तरित होगा वह वस्तु विशेष की गति से तय होता है। जेरे बहस मुद्दे को लें। आनुवंशिकी में दावा किया गया कि जीन में उत्परिवर्तन एकदम सांयोगिक या यादृच्छिक होता है। उसकी कोई दिशा नहीं होती। जीन में बाहर से किसी तरह दिशावार परिवर्तन नहीं किया जा सकता। और चूंकि लामार्कवाद किसी न किसी तरह के दिशावार परिवर्तन को मानकर चलता है इसलिए वह गलत है।

पहली बात तो यही कि स्वयं आनुवंशिकी के अनुसार जीन में सांयोगिक उत्परिवर्तन से अंततः प्रजातियों की दिशावार उत्पत्ति होती है। यानी जीन के स्तर पर सांयोगिक परिवर्तन अंततः एक दिशावार परिणाम पैदा करता है। पर, दूसरी इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात। क्या यह सच नहीं है कि एक तरह के दबाव एक तरह के परिवर्तन पैदा करते हैं? वैडिंगटन ने इसकी 'जेनेटिक एसिमलेशन' के जरिये व्याख्या की। उन्होंने कहा कि जीन में बहुत सारे उत्परिवर्तन छिपे रहते हैं। वे अभिव्यक्त नहीं होते। पर दबाव में वे मुखर हो जाते हैं और अभिव्यक्त होने लगते हैं। यह दबाव पीढ़ी दर पीढ़ी बना रहे तो वे मुखर जीनोटाइप का हिस्सा हो जाते हैं। इससे आगे बढ़कर यदि हम शरीर रचना योजना तथा विकास प्रक्रिया में मौजूद संरक्षण को ध्यान में रखें तो उत्परिवर्तन की सीमा और प्रत्यक्ष हो जाती है। भ्रूण विकास की मशीनरी के जीन में कोई भी महत्वपूर्ण उत्परिवर्तन भ्रूण के निष्पात के कारण कोई भविष्य नहीं रखता। उसके अनुकूलन या वरण के चरण तक पहुंचने की कोई संभावना नहीं होती। कहा जा सकता है कि यह भी अनूकूलन और वरण का एक रूप है पर यह केवल कहने की बात हो जायेगी।

इस तरह देखा जाये तो औपचारिक तौर पर यह बात ठीक है कि जीन में उत्परिवर्तन सांयोगिक या यादृच्छिक होता है। पर अपने वास्तविक निहितार्थ में यह ऐसा नहीं होता। वहां यह सीमाबद्ध होता है और निश्चितता की ओर ले जाता है। वैसे यह बात रोचक है कि आज आनुवंशिकी के जिस भविष्य की चर्चा होती है उसमें मुख्य जोर ही जीन में निश्चित परिवर्तन की ओर होता है। इंसान ने कुछ हद तक इसे हासिल किया है (जी एम फसलें)। यदि इंसान इसे हासिल कर सकता है तो बिना पहले से मौजूद संभावना के यह नहीं हो सकता। तब देखने की बात यह हो जायेगी कि क्या प्रकृति में भी ऐसा होता रहा है? डी एन ए का वह हिस्सा जिसे 'जंक' कहते हैं और जो इंसानों में 96 प्रतिशत है अपने भीतर सारे रहस्य छिपाये है। इनमें जो जंपिंग जीन है क्या वे यूं ही जंप करते (कूदते) रहते हैं या उनकी कोई निश्चित दिशा है? क्या हस्तक्षेपी आर एन ए और चुप कराने वाले आर एन ए से इन सबका कोई संबंध है? कहीं ऐसा तो नहीं कि जैव विकास में शुरू में ही आवश्यकता से बहुत ज्यादा AGCT डी एन ए में इकट्ठे हो गये और बाद में जैव विकास में क्रमशः इनका दिशावार पुनर्योजन और संयोजन होता गया है?

अमूर्त स्तर पर देखा जाये तो इसे मानने का कोई कारण नहीं है कि दिशावार उत्परिवर्तन असंभव है, कि यह केवल सांयोगिक और यादृच्छिक ही हो सकता है। बाहरी दबाव में डी एन ए अणु अस्थिर हो जाता है। अस्थिरता की इस अवस्था में उसमें जो परिवर्तन होंगे उनकी कोई दिशा हो सकती है जो उसकी समूची संरचना पर निर्भर करेगी। हां यदि उत्परिवर्तन उन कारकों से हो रहा है जो

क्वांटम प्रकृति के हैं तो वहां यादृच्छिकता होगी क्योंकि क्वांटम परिघटनाएं स्वयं यादृच्छिक होती हैं। डी एन ए अणु की संरचना और कार्य की और गहरी जानकारी भविष्य में इस पर प्रकाश डालेगी।

यहीं से कार्य-कारण संबंध पर आते हैं। आनुवंशिकी में कार्य-कारण संबंध को इकतरफा मान लिया गया है, सिवाय उन स्थितियों के जब 'फीडबैक लूप' की चर्चा होती है। डी एन ए कारण है और प्रोटीन कार्य है। जीनोटाइप कारण है, फीनोटाइप कार्य है। निचला स्तर यानी जीन कारण है और ऊपरी स्तर यानी जीव कार्य है। जीवन के लिए संघर्ष कारण है और अनुकूलन कार्य है। प्राकृतिक वरण कारण है और प्रजातियों की उत्पत्ति कार्य है इत्यादि। इसमें यह नहीं देखा जाता कि कार्य-कारण संबंध एक ऐसी शृंखला है जिसमें कारण कार्य को जन्म देता है जो अपनी बारी में खुद कारण बन जाता है। यानी शृंखला के एक ओर वही कार्य होता है तो दूसरी ओर कारण। इसके दोनों ही चरित्र होते हैं। फर्क केवल किसी निश्चित समय उसकी स्थिति का होता है।

जीन-प्रोटीन के प्रसिद्ध मामले को ही लें। किसी प्रोटीन के निर्माण के लिए जीन कारण हो सकता है, पर वह किसी अन्य प्रक्रिया का उत्पाद है। इस प्रक्रिया में भांति-भांति के प्रोटीन प्रमुख कारक हैं। इसी तरह जो प्रोटीन निर्मित हो रहा है वह आगे कारण बन जायेगा। अपने उत्प्रेरक और संरचनात्मक दोनों रूपों में वह ऐसा करेगा। जीव के पूरे चक्र को लें। बहुकोशिकीय जीव के जीवन चक्र की शुरुआत युग्मनज कोशिका से होती है जो स्वयं परिणाम होने के साथ ही नये जीव का कारण है। चीजों को समझने के लिए कार्य-कारण को अलग-थलग किया जा सकता है पर जब इसे वस्तुगत सच्चाई मान लिया जाता है तो वह भारी गलतियों की ओर ले जाता है। पहले अंडा या पहले मुर्गी का कुतर्क कार्य-कारण को विच्छिन्न करके देखने का ही परिणाम होता है।

अब स्थिरता और परिवर्तन, एकरूपता और विविधता, सामान्य और विशिष्ट तथा अमूर्त और ठोस को लें। धरती पर जीवन और उसके विकास के लिए जरूरी था कि उसमें स्थिरता हो तथा साथ ही उसमें परिवर्तन की गुंजाइश भी हो। प्रजातियों के अस्तित्व के लिए जरूरी था कि उनके जीवों में एकरूपता हो लेकिन साथ ही नयी प्रजातियों के अस्तित्व में आने के लिए जरूरी था कि उनमें विविधता भी हो। उनमें सामान्यता भी हो और विशिष्टता भी। जीवों के वर्गीकरण के विभिन्न संवर्ग विभिन्न स्तर पर इसी एकरूपता और विविधता, सामन्यता और विशिष्टता, अमूर्त और ठोस को समेटते हैं। जब हम मानव या होमो सेपियन्स कहते हैं तो हम एकरूपता, सामान्य और अमूर्तता की बात कर रहे होते हैं लेकिन जब किन्ही निश्चित इंसानों की बात करते हैं तो विविधता, विशिष्टता और ठोसपन सामने आ जाता है। एक स्तर ऊपर उठकर जब हम जीनस होमो की बात करते हैं तब होमो सेपियन्स प्रजाति विशिष्ट बन जाती है जबकि होमो सामान्य हो जाता है।

स्थिरता और परिवर्तन जीवन में हर स्तर पर अंतर्निहित है। जीव के युग्मनज के रूप में अस्तित्व में आने से लेकर उसके मरने तक ये दोनों लगातार तनावपूर्ण अवस्था में होते हैं। इसी कारण कोई जीव किसी समय विशेष पर वह होता भी है और नहीं भी। वहां एकरूपता भी होती है और भिन्नता भी। जीव के पूरे जीवन काल में यह स्थिरता और परिवर्तन कई चरणों से गुजरता है।

अकेले जीव में ही नहीं प्रजातियों में भी यह स्थिरता और परिवर्तन होता है। स्थिरता जहां प्रजाति को बनाये रखती है वहीं परिवर्तन नयी प्रजातियों को जन्म देता है। यदि स्थिरता न होती तो कोई प्रजाति बनी नहीं रह सकती थी (उसके सारे व्यक्तिगत जीव बिलकुल भिन्न-भिन्न हो जाते) और यदि परिवर्तन नहीं होता तो नयी प्रजाति अस्तित्व में नहीं आती। यही बात वर्गीकरण के अन्य संवर्गों के स्तर पर भी लागू होती है।

यदि धरती पर जीवन के सबसे वृहद स्तर पर यानी भूगर्भीय समय के स्तर पर देखें तो स्थिरता और परिवर्तन उस चीज में अभिव्यक्त होता है जिसे स्टीफन गोल्ड ने 'पंक्चुएटेड इक्विलिब्रियम' का नाम दिया है। उस स्तर पर स्थिरता का मेकेनिज्म चाहे जो हो लेकिन वह उस स्तर पर भी विद्यमान है।

नीचे लौटें तो जीन में उत्परिवर्तन की पूरी व्यवस्था इसी स्थिरता और परिवर्तन को सुनिश्चित करती है। एक और जीवों और उनकी प्रजातियों को बनाये रखने के लिए जरूरी है कि जीन के स्तर पर स्थिरता रहे। हिसाब-किताब दुरुस्त और पक्का रहे। लेकिन यदि इसमें किसी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं होगी तो नयी प्रजातियां अस्तित्व में नहीं आयेंगी और जैव विकास नहीं होगा। अतीत में कोई जैव विकास हुआ ही न होता।

पर स्वयं परिवर्तन का क्या चरित्र है? क्या परिवर्तन केवल मात्रात्मक होता है? फिर गुणात्मक परिवर्तन कैसे होता है? मात्रात्मक परिवर्तन और गुणात्मक परिवर्तन में क्या संबंध है?

इनमें भी वही संबंध है कि ये एक ही अंतर्विरोध के दो पहलू हैं। मात्रात्मक परिवर्तन अंततः गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाता है और गुणात्मक परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तनों की ओर ले जाता है। युग्मनज भ्रूण में, भ्रूण शिशु में, शिशु वयस्क में तथा वयस्क बूढ़े में बदल जाता है। ये सारे परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन हैं जो पहले केवल मात्रात्मक परिवर्तन से गुजरते है। युग्मनज कोशिका पहले सामान्य तौर पर विभाजित होती है-एक से दो, दो से चार, इत्यादि। पर समय आता है जब यह सामान्य विभाजन गुणात्मक विभाजन का रूप लेने लगता है और भ्रूण की अवस्था शुरू हो जाती है।

इस तरह देखें तो स्थिरता सापेक्षिक ही होती है। असल में स्थिरता में भी मात्रात्मक परिवर्तन हो रहे होते हैं। जब ये परिवर्तन एक निश्चित स्तर तक पहुंच जाते हैं तो गुणात्मक परिवर्तन का रूप ले लेते हैं। आवश्यकता इस बात की होती है कि किसी विशिष्ट वस्तु के अध्ययन में परिवर्तन के ठोस मेकेनिज्म का पता लगाया जाये। तभी ठोस रूप में पता चल सकता है कि मात्रात्मक परिवर्तन कैसे हो रहा है और कैसे गुणात्मक परिवर्तन में बदल रहा है।

डार्विन ने क्रमिक परिवर्तन पर जोर दिया था और इस बात से इंकार किया था कि छलांगों वाले परिवर्तन होते हैं। इस मामले में वे अपने गुरु चार्ल्स लाइल के सच्चे अनुयाई थे जो क्रमिक परिवर्तनों को ही सारे भूगर्भीय परिवर्तनों का कारण मानते थे। डार्विन के नक्शेकदम पर आनुवंशिकी के आधुनिक संश्लेषण ने भी छोटे-छोटे क्रमिक परिवर्तन पर जोर दिया। पर इसी कारण इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया या नकार दिया गया कि संचित होते मात्रात्मक परिवर्तन अंततः गुणात्मक परिवर्तन को जन्म देते हैं। भौतिक विज्ञान की भाषा में 'फेज ट्रांजिशन' हो जाता है।

गुणात्मक परिवर्तन को अब आनुवंशिकी में क्रमशः स्वीकार किया जाने लगा है। जान मेनार्ड स्मिथ ने आठ प्रमुख संक्रमण की बात की है:

1- प्रतिकृति वाले अणुओं से अणुओं का खानों/खोलों में बन्द होना

2- स्वतंत्र प्रतिकृति वाले अणु से क्रोमोसोम

3- जीन और उत्प्रेरक दोनों वाले आर एन ए से डी एन ए+प्रोटीन

4- प्रोकैरियोट से यूकैरियोट

5- गैर लैंगिक क्लोन से लैंगिक आबादी

6- पोटिस्टा से जन्तु, पौधे, फंजाई (कोशिका विभेदीकरण)

7- अकेले जीव से कालोनी (गैर-पुनरुत्पादक जातियां)

8- प्राइमेट समाज से मानव समाज (भाषा)

जान मेनार्ड स्मिथ के आठ प्रमुख संक्रमणों की इस सूची पर विवाद हो सकता है। कोई और सूची बनाई जा सकती है। पर यह सूची और कुछ नहीं बल्कि गुणात्मक परिवर्तनों की सूची है।

उपरोक्त सूची पर नजर डालें तो यह स्पष्ट उभरता है कि धरती पर जीवन प्रगति करता गया है। निचले चरण से ऊपरी चरण की दिशा एक खास किस्म की प्रगति की दिशा है। यह दिशा इतनी मुखर है कि उन्नीसवीं सदी में अर्न्स्ट हेकेल ने तो इसके आधार पर अपना जैव विकास का पूरा सिद्धान्त ही दे दिया था जो डार्विन के सिद्धान्त से नितान्त भिन्न था। इसके अनुसार नये जीव पुराने जीवों के भ्रूण विकास के दौरान अंतिम चरण में नया कुछ जुड़ने और पुराने चरणों के और संक्षिप्त हो जाने से अस्तित्व में आते हैं। उस समय माना जाता था कि भ्रूण विकास में नये जीव पुराने जीवों की जीवन यात्रा को संक्षेप में दुहराते हैं (आंटोजेनी फालोज फाइलोजेनी)।

लेकिन धरती पर जीवन की आम प्रगति वास्तव में साथ ही अवनति के साथ जुड़ी हुई है। इसमें प्रगति के साथ अवनति भी है। अवनति इसमें दोहरे अर्थ में है। एक तो निचले स्तर की प्रजातियां फिर फिर पैदा होती रहती हैं। जैसा कि पहले कहा गया है पिछले पचास करोड़ सालों में बहुकोशिकीय जन्तुओं के 35 फाइलम में से कोई भी विलुप्त नहीं हुआ है हालांकि समय-समय पर प्रजातियां और अन्य ऊपरी संवर्ग भी विलुप्त होते रहे हैं। यही नहीं। एकदम निचले स्तर के जीव यानी एक कोशिकीय जीव भी पैदा होते रहते हैं। नये-नये बैक्टीरिया अस्तित्व में आते रहते हैं।

पर जीवन में प्रगति के साथ अवनति एक अन्य अर्थ में भी है। जब एक कोशिकीय जीव बहुकोशिकीय जीव में बदलता है तो साथ ही यह अवनति भी है क्योंकि कोशिकाएं विभेदित हो जाने के कारण अब वह बहुत सारा कुछ नहीं कर सकती हैं जो पहले एक कोशिका कर लेती थी। श्रम विभाजन कुशलता पैदा करता है तो साथ ही संकीर्णता भी वह बहुत सारे क्षेत्रों में कुशलता को समाप्त कर एक या कुछ क्षेत्र में कुशलता को बढ़ा देता है। इस दोहरी गति को, प्रगति के साथ अवनति को सही रूप में न देख पाने के कारण ही अक्सर यह कहा जाता है कि यह कहना गलत है कि जीवन में आम तौर पर प्रगति हुई है, कि आम तौर पर जटिलता में वृद्धि हुई है। जीव विज्ञान की दार्शनिक व्याख्याओं में एक पूरी धारा है जो जीवन में आम प्रगति और जटिलता में वृद्धि से इंकार करती है। आठ प्रमुख संक्रमण की बात करने वाले उपरोक्त जान मेनार्ड स्मिथ अपनी किताब की शुरुआत में ही धरती पर जीवन में आम प्रगति की धारणा का खण्डन करते हैं।

गुणात्मक परिवर्तन की बात करते समय यह भी रेखांकित करना होगा प्रकृति के अन्य क्षेत्रों की तरह जीवन में भी संक्रमणकालीन रूपों की भरमार है। ये संक्रमणकालीन रूप और कुछ नहीं बल्कि गुणात्मक परिवर्तन के पद चिह्न हैं। विषाणु (वाइरस) सजीव और निर्जीव के बीच की चीज है। उभय लिंग, हर्माप्रोडाइट और पार्थेनियोजेनेसिस लैंगिक व गैर लैंगिक प्रजनन के बीच की चीज है। वर्गीकरण करने वाले वैज्ञानिक जानते हैं कि कई बार खास जीव को किसी विशेष संवर्ग में रखना कितना मुश्किल काम हो जाता है।

यहीं से सतत और असतत (विविक्त) के सवाल पर आते हैं। सतत और असतत विरोधी हैं और जीवों की संरचना और प्रक्रिया दोनों में इनकी प्रकृति को लेकर भारी विवाद है। आनुवंशिकी ने सतत के मुकाबले असतत (विविक्त) को तरजीह दी थी। माना गया कि वंशागति के मण्डेलीय कारक असतत हैं तथा बाद में क्रोमोसोम पर अलग-अलग जीन के स्थापित हो जाने के बाद इसे प्रायोगिक तौर पर प्रमाणित माना जाने लगा। पर इसमें एक तो यह नजरअंदाज किया गया कि जीन एक ही सतत डी एन ए के अलग-अलग हिस्से हैं, दूसरे इसे अनदेखा किया गया कि ये जीन खास तरह की अंतर्क्रिया के जरिये ही फीनोटाइप पैदा करते हैं (वैडिंगटन का जीनोटाइप नेटवर्क और एपीजेनेटिक लैण्डस्केप)। यह भी नजरअंदाज किया गया कि फीनोटाइप विविधता सतत होती है। असल में यह सब और कुछ नहीं बल्कि इस चीज का परिणाम था कि सतत और असतत के वास्तविक संबंध को सही तरह से नहीं

समझा गया। सतत असतत में बदल जाता है और असतत सतत तक ले जाता है। किसी खास मामले में यह खास किस तरह से होता है, इसे केवल ठोस अध्ययन से ही जाना जा सकता है। आनुवंशिकी में यह जीनोटाइप के एक-दूसरे से अंतर्गुफित नेटवर्क के जरिये होता है।

जब मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन के सवाल पर आते हैं तो सतत-असतत का यह सवाल दूसरे रूप में प्रस्तुत हो जाता है। मात्रात्मक परिवर्तन एक सतत परिवर्तन है जबकि गुणात्मक परिवर्तन असतत। पर ज्यादा ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि सतत परिवर्तन भी बहुत से असतत बिन्दुओं से मिलकर बना हुआ है जबकि असतत परिवर्तन में बहुत से संक्रमणकालीन चरणों के रूप में सतत विद्यमान है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जीवों का वर्गीकरण पेश करता है। (यह साथ ही एकरूपता और भिन्नता की अद्भुत तस्वीर भी है)।

अंत में हम संरचना और प्रक्रिया, अस्तित्व में होने (being) और अस्तित्व में आने (becoming) तथा रूप और अंतर्वस्तु के सवाल पर आयें। विज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह आनुवंशिकी में भी बुर्जुआ वैज्ञानिकों का जोर संरचना पर रहा है-खासकर किसी मूलभूत, अंतिम संरचना की खोज पर जो सभी चीजों को स्पष्ट करें भौतिकी में यह अंतिम संरचनात्मक कण की खोज रही थी तो आनुवंशिकी में वंशागति के अंतिम कारक की जो जीन की खोज में फलीभूत हुई। जीन की खोज होते ही यह मान लिया गया कि यह किसी जीव की समूची संरचना और कार्य को तथा एक प्रजाति के तौर पर अस्तित्व में आने को स्पष्ट कर देता है। वही जीन एक ओर जीव के व्यक्तिगत जीवन को स्पष्ट करता है तो साथ ही उसकी प्रजाति के इतिहास को भी। मजे की बात यह है कि यह सब तब मान लिया गया जब जीव के वास्तविक विकास यानी भ्रूण और शिशु विकास पर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। संरचना के आगे प्रक्रिया को पूरी तरह से नकार दिया गया। अस्तित्व में होना (being) ही सब कुछ था, अस्तित्व में आना (becoming) कुछ भी नहीं। कहने की बात नहीं कि यह बेहद एकांगी समझदारी की ओर ही ले जा सकता था। आनुवंशिकी के खिलाफ लीसेंको और उनके समर्थकों की तीखी प्रतिक्रिया का एक प्रमुख कारण आनुवंशिकी की यह पहुंच भी थी। इसके मुकाबले लीसेंको और उनके समर्थकों ने प्रक्रिया पर जोर दिया, हालांकि वंशागति के मामले में किसी भी संरचना को नकारते हुए वे दूसरे छोर पर चले गये।

संरचना को अस्तित्व में आने की उसकी प्रक्रिया से तथा संरचना को उसके प्रकार्य (function) से अलग नहीं किया जा सकता। प्रोटीन को लें। प्रोटीन की संरचना एक खास क्रम में अमीनो एसिड की इकाइयों के जुड़ने से बनती है तथा उसका कार्य पूर्णतया उसके त्रिआयामी रूप पर निर्भर करता है। वह इस हद तक होता है कि यह त्रिआयामी रूप बदलते ही उसका कार्य बदल जाता है। इसी तरह डी एन ए अणु का कार्य उसकी खास संरचना पर टिका हुआ है (AGCT के खास क्रम पर तथा क्रोमेटिन संरचना पर)। इसी तरह इसकी संरचना इसके अस्तित्व में आने की एक खास प्रक्रिया से जुड़ी हुई है। इसी तरह भ्रूण विकास में यह होता है कि शुरुआती कोशिकाओं के समुच्चय में किसी कोशिका की खास स्थिति भविष्य में उसकी गति को तय कर देती है।

यहां रूप और अंतर्वस्तु के संबंध को भी देखा जा सकता है। डी एन ए अणु का खास द्वि कुण्डलीय रूप उसकी अंतर्वस्तु को परिभाषित करता है। इसी तरह प्रोटीन का त्रिआयामी रूप उसकी अंतर्वस्तु को। रूप बदलते ही अंतर्वस्तु बदल जाती है जबकि नयी अंतर्वस्तु के लिए नया रूप जरूरी होता है। लेकिन यहां यह रेखांकित करना होगा कि चूंकि जैव विकास अवसरवादी रहा है इसलिए अक्सर रूप को संरक्षित रखते हुए उसमें नयी अंतर्वस्तु भरी गई तथा एक ही अंतर्वस्तु के लिए कई रूपों का इस्तेमाल हुआ है। पर यह रूप व अंतर्वस्तु दोनों में बिना किसी परिवर्तन के संभव नहीं हुआ है। मछली के सिर व धड़ के बीच पायी जाने वाली उसके गिल को संचालित करने वाली तीन हड्डियां इंसानों के कान में स्वरयंत्र की तीन हड्डियों में रूपान्तरित हो गयी हैं। इस बीच वे कई चरणों से गुजरी हैं। पर हर स्तर पर उनके रूप और अंतर्वस्तु में, उनकी संरचना व प्रकार्य में परिवर्तन होता गया है। यह निरंतरता और परिवर्तन का भी अच्छा उदाहरण है।

आनुवंशिकी में रूप और अंतर्वस्तु के संबंध को केवल विशेषताओं (ट्रेट या करेक्टर) के अनुकूलन तक सीमित कर दिया गया और साथ ही मान लिया गया कि अनुकूलन संपूर्ण है। यहां तक कि उन्हें रुडयार्ड किपलिंग की 'यूं ही तो कहानियां' (Just so Stories) की तरह बतलाने का प्रयास किया गया। यहां रूप व अंतर्वस्तु की एकता पर तो खूब जोर दिया गया पर उनके बीच संघर्ष गायब हो गया। इसी कारण अक्सर ही प्रजातियों की विशेषताओं की उत्पत्ति का विश्लेषण 'यूं ही तो कहानियां' बन गईं।

आम तौर पद देखें तो आनुवंशिकी की यह समस्या रही है कि इसमें विभिन्न विशिष्ट मामलों में अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं के बीच संबंधों को सही तरह से नहीं देखा गया। अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं के बीच एकता भी होती है और संघर्ष भी। एकता सापेक्षिक होती है तो संघर्ष निरपेक्ष। एकता गौण होती है तो संघर्ष प्रधान हालांकि किन्हीं अन्य स्थितियों में स्थिति उलटी भी हो जाती है। आनुवंशिकी में या तो दोनों पहलूओं के बीच केवल एकता देखी गयी या फिर केवल संघर्ष। इससे भी बुरा यह कि अक्सर ही केवल एक पहलू को देखा गया और दूसरे को पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया या नकार दिया गया। यह तो देखना और भी मुश्किल था कि दोनों पहलू एक-दूसरे में अंतर्वेशन कर जा रहे हैं। दोनों पहलुओं को एक-दूसरे के साथ संघर्ष में उनके विकास के रूप में नहीं देखा गया और न इसे कि विकास की प्रक्रिया में दोनों पहलुओं के स्थान बदल जाते हैं: प्रधान गौण बन जाता है तथा गौण प्रधान। इसे न देख पाने के कारण मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन की सही समझदारी भी नहीं हो सकती थी।

यदि आनुवंशिकी में अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं के वास्तविक संबंध को समझने में ये समस्याएं थीं तो अंदाज लगाया जा सकता है कि जटिल विश्व में कार्यरत कई अंतर्विरोधों के आपसी संबंधों और फिर उसके तहत हर अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं को समझने में कितनी उलझन रही होगी। असल में जीवन में हर स्तर पर संबंधों (अंतर्विरोधों) की भरमार है। यह आणविक, कोशिकीय, जैविक तथा संवर्गीय सभी स्तरों पर है। फिर इन स्तरों के आपसी संबंधों की भी जटिलता है। इतने सारे जटिल संबंधों का कुल योग ही

जीवन है। ऐसे में अधिभूतवादी दृष्टि से जीवन को समझने में कितनी उलझनें पैदा होंगी यह सहज ही स्पष्ट है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि जैविक जगत के बारे में हमारी समझदारी अभी इतनी कम और उथली क्यों हैं! क्यों हर बात को यदि-किन्तु-परन्तु से घेरा जाता है और क्यों बहुत कुछ अटकलबाजियों पर निर्भर है। ड्रोसोफिला मेलानोगैस्टर पर एक शताब्दी के प्रयोग और अध्ययन के बाद भी आज जब उसके भ्रूण विकास की चर्चा होती है तो पता चलता है ज्यादातर चीजें हम नहीं जानते। उसके जीनोम की विस्तृत जानकारी के बाद भी स्पष्ट नहीं है कि कैसे सारे जीन कैसे ड्रोसोफिला के जीव को पैदा करते हैं।

सोवियत संघ में ऊपर से लेकर नीचे तक, बौद्धिक हलकों से लेकर आम कार्यकर्ता तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कम से कम एक सामान्य समझदारी होने के चलते नयी उभरती आनुवंशिकी की इन प्रवृत्तियों को देखना और उनसे बेहद असुविधाजनक महसूस करना अत्यंत स्वाभाविक था। और जब समाज तीव्र रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजर रहा हो तो यह और भी स्वाभाविक था। इसलिए नयी उभरती आनुवंशिकी के प्रति वहां तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उसे व्यापक समर्थन हासिल हुआ।

पर आनुवंशिकी के खिलाफ यह प्रतिक्रिया दूसरे छोर पर गई। प्रचलित जीव विज्ञान को नकार कर एक एकदम नया जीव विज्ञान -'मिचुरिन जीव विज्ञान' गढ़ने की कोशिश की गई। आनुवंशिकी द्वारा वंशागति को जीन संरचना में खोजने की प्रतिक्रिया में वंशागति को केवल प्रक्रिया (जीव के जीवन चक्र की प्रक्रिया) तक सीमित कर दिया गया तथा उसमें क्रोमोसोम या जीन की भूमिका को नकार दिया गया या उसे महज जुबानी स्वीकृति तक समेट दिया गया। अंतिम प्रतिक्रिया तो यह हुई कि विज्ञान और उसके सिद्धान्त के मुद्दे को प्रयोग और बहस से हल करने के बदले 1948 से उसे प्रशासनिक उपायों से हल करने का प्रयास किया गया जो कि विज्ञान के किसी और क्षेत्र में नहीं किया गया।

इस अतिरेकी प्रतिक्रिया के बुरे परिणाम निकले। जैसा कि द्वन्द्ववाद कहता है, किसी भी चीज को अति पर पहुंचा देने से वह अपने विपरीत में बदल जाती है। नयी उभरती आनुवंशिकी की दिक्कतों के खिलाफ वाजिब प्रतिक्रिया अतिरेक पर पहुंच कर अपने विपरीत में बदल गई। उसने जीव विज्ञान को विकसित करने के बदले उसे बाधित कर दिया।

वैचारिक-दार्शनिक स्तर पर देखें तो इस प्रतिक्रिया के अतिरेक पर जाने के कारण थे। यह असल में एक आम समस्या की विशिष्ट अभिव्यक्ति थी। स्टालिन कालीन समाजवाद में और स्वयं स्टालिन में भी अधिभूतवाद की एक प्रवृत्ति थी यानी द्वन्द्ववाद की सटीक समझदारी का किसी हद तक अभाव। माओ ने दर्शन से लेकर राजनीतिक-आर्थिक मामलों में कई पहलुओं से इसे चिह्नित किया है। समाजवाद के निर्माण के दौरान अपनाई गई नीतियों से लेकर सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष के खात्मे की घोषणा तक, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर प्रसिद्ध लेख में अंतर्विरोधों को वैपरीत्यों की एकता के रूप में न देख पाने की कमी से लेकर विभिन्न तरह के अंतर्विरोधों को सही तरह से हल न कर पाने तक इसके विभिन्न आयाम हैं। ऐसे में यह लाजिमी था कि विज्ञान के क्षेत्र में भी इसकी छाया पड़ती और विज्ञान के जिस क्षेत्र का सामाजिक संबंधों से सबसे सीधा सबंध था यानी जीव विज्ञान में, वहां यह छाया सबसे सघन थी। चूंकि सामाजिक विज्ञान सचेत तौर पर मार्क्सवादी विचारों के अनुरूप ढाल दिये गये थे इसलिए उनमें यह छाया उस रूप में नहीं पड़ सकती थी जैसे प्राकृतिक विज्ञानों में पड़ रही थी। इस रोशनी में आनुवंशिकी की दिक्कतों के प्रति सोवियत संघ में उभरी प्रतिक्रिया और मिचुरिन जीव विज्ञान' की दिक्कतें-सीमाओं को समझा जा सकता है।

एक खास अर्थ में देखें तो बीसवीं सदी में आनुवंशिकी का विकास निषेध का निषेध के रूप में हुआ है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में साम्राज्यवादी देशों (खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका और यूके) में आनुवंशिकी में लामार्कवाद के 'अर्जित लक्ष्णों की वंशागति' के सिद्धान्त को तथा सोवियत संघ के 'मिचुरिन जीव विज्ञान' को सिरे से नकार दिया गया। उसे जीन तथा उसके द्वारा निर्धारित जीव तक सीमित कर दिया गया जिसमें जीन व जीव के बीच किसी तरह की अन्योन्य क्रिया की गुंजाइश नहीं थी। लेकिन बीसवीं सदी की अंतिम चौथाई में स्थिति बदलने लगी तथा अब वह काफी बदल चुकी है। निषेध का निषेघ हो रहा है तथा एपिजेनेटिक्स और एपीजेनेसिस के रूप में आनुवंशिकी एकदम नया स्वरूप ग्रहण कर रही है। 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के सिद्धान्त की ज्यादा गहरे स्तर पर वापसी हो रही है जिसमें आणविक जीव विज्ञान की सारी प्रगति समाहित है। 'मिचुरिन जीव विज्ञान' द्वारा रेखांकित मूल बात यानी वंशागति को जीव के जीवन चक्र से संबद्ध कर देखते की बात की भी ज्यादा गहरे स्तर पर वापसी हो रही है। इन सबसे समृद्ध होकर डार्विनवाद भी अब नया रूप ग्रहण कर रहा है तथा इससे जीवन की ज्यादा बेहतर व गहन समझदारी विकसित हो रही है।

V

विज्ञान, दर्शन और विचारधारा

विज्ञान को वर्गीय विज्ञान में यथा बुर्जुआ विज्ञान और सर्वहारा विज्ञान में नहीं बांटा जा सकता पर विज्ञान का समूचा इतिहास यह दिखाता है कि विज्ञान और वैज्ञानिक गहराई से अपने समाज से प्रभावित होते रहे हैं। (यहां चर्चा प्राकृतिक विज्ञानों की हो रही है यानी भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान इत्यादि) जे डी बर्नाल ने अपनी प्रसिद्ध किताब **इतिहास में विज्ञान** में इसका विस्तृत खाका खींचा है।

आम तौर पर बुर्जुआ वैज्ञानिक या ज्यादा बेहतर कहें तो बुर्जुआ समाज के वैज्ञानिक (जो अधिकांशतः पेटी बुर्जुआ पृष्ठभूमि से आते हैं) अपने और अपने विज्ञान के बारे में मानते हैं कि वे एक वस्तुगत सत्य के बारे में वस्तुगत ज्ञान के लिए पूर्ण निस्पृह भाव से

काम करते हैं। उनका किसी किस्म की विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं होता। वे किसी विचारधारा के प्रभाव को विज्ञान के लिए घातक मानते हैं। लीसेंको और उनके विज्ञान के बारे में बुर्जुआ समाज के आम वैज्ञानिकों की सहज प्रतिक्रिया यही थी कि वह विज्ञान नहीं था क्योंकि वह एक खास विचारधारा (मार्क्सवाद) से प्रेरित था। स्वयं सोवियत संघ के भीतर बहुत से पुराने वैज्ञानिकों की दिल से यही राय थी।

लेकिन क्या वास्तव में ऐसा है? जीव विज्ञान का इतिहास और खासकर आनुवंशिकी का इतिहास क्या बतलाता है?

इस बारे में बात करने से पहले एक उदाहरण भौतिकी से लें।

ली स्मोलिन नामक एक भौतिकशास्त्री ने वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में एक किताब प्रकाशित की-भौतिकशास्त्र के साथ समस्या (The trouble with Physics)। यह किताब भौतिकशास्त्र के सबसे आगे के अति आधुनिक हिस्से से संबंधित है यानी पदार्थ की संरचना के आधुनिक सिद्धान्तों से, खासकर सुपरस्ट्रिंग थियरी से। स्मोलिन का कहना है कि 1970 के दशक में पदार्थ की संरचना के सबसे अंतिम तत्व के तौर पर सुपरस्ट्रिंग की अवधारणा के आने के बाद से अब तक इस दिशा में वास्तव में कोई प्रगति नहीं हुई है हालांकि 1980 के दशक से ही यह फैशन में है और भौतिकी में इस क्षेत्र में शोध के नब्बे फीसदी से ज्यादा संसाधन इसी अवधारणा को समर्पित हैं। सुपरस्ट्रिंग का माडल विशुद्ध गणितीय माडल है जिसके अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड में मौजूद पदार्थ की संरचना का माडल संभावित दस घात पांच सौ में से कोई एक हो सकता है। यानी व्यवहारतः अनंत माडलों में से कोई एक हमारे बह्मांण्ड के पदार्थ की संरचना को परिभाषित करता है पर वह कौन सा है उसे जानने का कोई रास्ता नहीं है। यानी व्यवहारतः यह अवधारणा एक अनुपयोगी अवधारणा है पर वैज्ञानिकों का सारा ध्यान चार दशकों से इसी पर केन्द्रित है। शोध के लिए ज्यादातर पैसा इसी को जा रहा है। इसी में किसी नये वैज्ञानिक का करियर है। किसी दूसरी दिशा में सोचने का मतलब है अपना पूरा करियर दांव पर लगा देना। ऐसे में कोई व्यावहारिक प्रगति न होने के बावजूद एक चक्र बन गया है जिसमें नये वैज्ञानिक फैशन और कैरियर की खातिर सुपरस्ट्रिंग के क्षेत्र में जाते हैं और फिर ऊपर उठ कर मठाधीश के तौर पर नये वैज्ञानिकों को उसी में खींचते हैं। स्मोलिन इस दुष्चक्र के लिए सोच (खूबसूरत गणितीय माडल के प्रति आसक्ति), फैशन, पैसा और कैरियर सबको जिम्मेदार मानते हैं। ध्यान रखने की बात है कि गणित के बाद भौतिकी ही सबसे शुद्ध विज्ञान माना जाता है यानी जिस क्षेत्र में समाज का दखल सबसे कम है।

[विचारधारा जैसे ज्यादा उच्चतर 'आत्मिक' कारकों की बात तो क्या पैसा और कैरियर जैसे 'भौंड़े', 'भौतिक' कारक भी पूंजीवादी समाज में वैज्ञानिक शोध व सिद्धान्तों को किस तरह प्रभावित करते हैं इसका जीव विज्ञान से एक उदाहरण नेस्सा कैरे ने 2015 में प्रकाशित अपनी किताब 'जंक डी एन ए' में दिया है जो प्रसंगवश इस लेख की विषयवस्तु से भी संबंधित है। 2012 में इनकोड (ENCODE) परियोजना के शोध व निष्कर्ष प्रकाशित किये गये। करीब 25 करोड़ डालर की यह बड़ी परियोजना (बिग साइन्स) मानव जीनोम के कार्य के ज्यादा व्यापक अध्ययन को समर्पित थी। मानव जीनोम परियोजना के बाद इनकोड इस संबंध में सबसे बड़ी परियोजना थी। इस परियोजना के प्रमुख निष्कर्षों में एक निष्कर्ष यह भी था कि पहले की धारणा के विपरीत मानव जीनोम का करीब अस्सी प्रतिशत हिस्सा कार्यशील है। यानी जिसे पहले 'जंक डी एन ए' माना जाता था वास्तव में वह 'जंक' नहीं है। इस निष्कर्ष का परम्परागत आनुवंशिकविदों ने विरोध किया। नेस्सा कैरे का कहना है कि सैद्धान्तिक मतभेदों के अलावा इस विरोध के पीछे यह भी कारण है कि पच्चीस करोड़ डालर की इस बड़ी परियोजना के बदले छःसौ छोटी-छोटी शोध परियोजनाएं चलाई जा सकती थीं जो परंपरागत आनुवंशिकविद परंपरागत शोध पर चलाते। जब पूंजीवादी देशों में विज्ञान पर खर्च सीमित हो तो यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।]

जीव विज्ञान पर लौटें तो बात डार्विन से ही शुरू करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है डार्विन ने प्रजातियों की उत्पत्ति के लिए जो आम सिद्धान्त विकसित किया उसकी प्रेरणा उन्हें माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त से मिली थी। यह अटकलबाजी का विषय नहीं है क्योंकि इस प्रेरणा का जिक्र स्वयं डार्विन ने ही किया है। अब यह आम जानकारी की बात है कि माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त न केवल गलत और प्रतिक्रियावादी है बल्कि किसी भी अर्थ में इसे निस्पृह चिन्तन का परिणाम नहीं माना जा सकता। यह सामाजिक दृष्टि से घोर पक्षधर सिद्धान्त था और इसके बहुत स्पष्ट सामाजिक निष्कर्ष थे। यह सिद्धान्त नये उभरते औद्योगिक पूंजीवाद में भीषण गरीबी-भूखमरी के बारे में छिड़ी बहस में एक निश्चित दृष्टि से हस्तक्षेप था। इस घोर समाज सापेक्ष सिद्धान्त से यदि डार्विन ने प्रेरणा ली तो यूं ही नहीं। यह अपने कम घृणित लेकिन ज्यादा स्वीकार्य रूप में उस जमाने में पूंजीपति वर्ग की आम चेतना का हिस्सा थी। (यह याद रखना होगा कि डार्विन पर्याप्त धनी व्यक्ति थे और उन्होंने शेयर बाजार में निवेश कर रखा था)। यह एडम स्मिथ का सबका सबके खिलाफ संघर्ष था जो अंततः सबके लिए सबसे भली चीज पैदा करता था। भले ही इसमें व्यक्तिगत तौर पर नुकसान हो पर पूरे मानव समाज के लिए परिणाम भले का ही होता था। जैविक जगत में डार्विन का अस्तित्व के लिए संघर्ष और सबसे योग्य का वरण इसी स्मिथी-माल्थसी सिद्धान्त का दूसरा रूप था।

एक दूसरे मामले में भी इसे देखा जा सकता है। डार्विन ने 'प्रजातियों की उत्पत्ति' के करीब डेढ़ दशक बाद मानव की उत्पत्ति का खाका पेश किया जो प्रजातियों की उत्पत्ति का ही एक विशिष्ट मामला था। लेकिन इस संबंध में उन्होंने जो किताब प्रकाशित की (मानव का अवतरण) वह एक दूसरी किताब के साथ संबद्ध थी-लैंगिक संबंध में वरण (Selection in Relation to Sex)। समूची किताब का शीर्षक था-डीसेन्ट आव मैन एण्ड सेलेक्सन इन रिलेशन टू सेक्स। शुरू के चौथाई हिस्से में मानव की उत्पत्ति पर बात करने के बाद डार्विन इसके बाद के आधे हिस्से में आम तौर पर जीवों में लैंगिक वरण पर बात करते हैं। अंत में वे फिर मानव पर लौट कर आते हैं और उसके संबंध में लैंगिक वरण पर तथा उसके सांस्कृतिक विकास पर बात करते हैं। डार्विन जब जीव-जन्तुओं में लैंगिक

वरण की चर्चा करते हैं तो जो तस्वीर उभरती है वह एक विक्टोरियाई समाज की तस्वीर है। रिचर्ड लिओन्टिन ने ठीक ही टिप्पणी की है कि मानो एक विक्टोरियाई बुर्जुआ लेडी सज-धज कर सोफे पर बैठी हो और आकांक्षी पुरुष उसके सामने घुटने पर बैठ कर शादी का प्रस्ताव कर रहा हो (उसके पहले वह बाप से बात कर चुका होता है और अपनी सम्पत्ति का ब्यौरा दे चुका होता है)। आज भी लोकप्रिय कार्यक्रमों में जीव-जन्तुओं के बीच लैंगिक संबंधों को इसी रूप में दिखाया जाता है (प्रकृति को समर्पित टी वी चैनलों पर इसे आसानी से देखा जा सकता है।) इतना ही नहीं, मानव के बारे में डार्विन जितनी बातें करते हैं उसमें उनके जमाने में नस्ल व स्त्रियों के बारे में जो आम धारणाएं प्रचलित थीं उसे साफ देखा जा सकता है। यह इसके बावजूद कि डार्विन व्यक्तिगत तौर पर एक विनम्र और उदारवादी व्यक्ति थे।

दार्शनिक तौर पर बात करें तो डार्विन ने 'प्रजातियों की उत्पत्ति' के सिद्धान्त में जिस क्रमिकवाद को अपनाया वह न केवल उनके गुरू चार्ल्स लाइल का सिद्धान्त था बल्कि उस जमाने में बुर्जुआ वर्ग की, खासकर ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग की आम धारणा थी। इंग्लैण्ड के बुर्जुआ वर्ग ने सत्रहवीं सदी के अंत से ही क्रांति से तौबा कर ली थी और अपने उत्थान के लिए क्रमिक सुधारों का रास्ता अपना लिया था। अठारहवीं सदी के अंत की महान फ्रांसीसी क्रांति ने उसके इन विचारों को पुख्ता ही किया था। यह याद रखना होगा कि फ्रांसीसी क्रांति के खिलाफ एक सबसे तीखी प्रतिक्रिया इसकी शुरुआत में ही (जब रोबेस्पियरे और जैकोबिन अभी बहुत दूर थे) ब्रिटिश नेता एडमंड बर्क की ओर से आई थी। (भारतीयों के लिए दिलचस्पी की बात यह है कि जब वारेन हेस्टिंग्ज इंग्लैण्ड वापस लौटा तो भारत में उसकी प्रलयकारी नीतियों और लूट-पाट के लिए उसके खिलाफ महाभियोग बर्क ने ही लगाया था)। अस्तु, क्रमिक सुधारों का रास्ता ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग का आम रास्ता था। वह छलांगों के खिलाफ था। चार्ल्स लाइल के 'यूनिफार्मिटेरियन' सिद्धान्त में इसी ने मान्यता पाई जिसके अनुसार भूगर्भीय संरचना में कार्यरत नियम हमेशा से वही हैं और वे धीमे किन्तु लम्बे समय के क्रमिक परिवर्तनों के जरिये समुद्र, पर्वत जैसी विशाल संरचनाओं को जन्म देते हैं। यही सिद्धान्त बदले रूप में जीवों की उत्पत्ति के बारे में चार्ल्स डार्विन ने प्रस्तुत किया जिसके अनुसार जीवों में लम्बे समय तक होने वाले छोटे क्रमिक परिवर्तन नयी प्रजातियों को जन्म देते हैं। इसमें छलांग की न तो जरूरत है और न गुंजाइश।

डार्विन से आगे बढ़ें तो तीन प्रमुख व्यक्तियों और घटनाओं की चर्चा करना फायदेमंद होगा। ये समय के हिसाब से लगभग डेढ़ शताब्दियों को समेटते हैं। (ये तीनों स्टीफन गोल्ड की किताब 'द मिस्मीजर ऑव मैन' से लिए गये हैं)।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अमेरिका में सेमुअल जार्ज मोर्टन नामक एक डाक्टर थे जिन्होंने इंसान की खोपड़ी में मौजूद दिमाग को नापने का तरीका विकसित किया (क्रेनियोमेट्री)। उनके पास भांति-भांति के जगहों के इंसानों की खोपड़ियों का संग्रह था।

उस समय न केवल भगवान द्वारा जीवों की उत्पत्ति का सिद्धान्त काफी प्रचलित था बल्कि यह भी प्रचलित था कि दुनिया भर में विद्यमान भांति-भांति की 'नस्लों' के इंसानों का अलग-अलग विकास हुआ है। इसे 'पॉलीजेनी' का सिद्धान्त कहते थे। इसका बाइबिल में वर्णित आदम और हौवा की उत्पत्ति से किसी तरह तालमेल बैठा लिया जाता था। मोर्टन भी इसी पॉलिजेनी को मानते थे।

भांति-भांति के 'नस्लों' के इंसानों और स्त्री-पुरुषों की खोपड़ियों को नाप कर मोर्टन ने जो निष्कर्ष निकाला वे उनके जमाने में यूरोप-अमेरिका में प्रचलित धारणा के अनुरूप थे। जिन यूरोपीय 'नस्लों' को सबसे विकसित माना जाता था (उत्तर पश्चिमी यूरोप के लोग यानी 'नार्डिक' लोग) उनके दिमाग सबसे बड़े आकार के थे और जिन्हें निचले स्तर का माना जाता था यानी नीग्रो या आस्ट्रेलियाई आदिवासी, उनके दिमाग सबसे छोटे आकार के थे। हर 'नस्ल' में औरतों का दिमाग पुरुषों के दिमाग से छोटा था।

स्टीफन गोल्ड ने मोर्टन के परिणामों का बारीकी से अध्ययन कर पाया कि निष्कर्ष असल में परिणामों के अनुरूप नहीं थे। औसत निकालने में मनमानी बरती गई थी और 'वेटेज' का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। बड़ी बात यह थी कि दिमागी द्रव्य और शरीरिक द्रव्य के अनुपात के बदले दिमागी द्रव्य के कुल आकार पर जोर दिया गया था। इस हिसाब से तो ह्वेल इंसानों से ज्यादा बुद्धिमान होंगे।

असल में इस तरह के परीक्षणों और निष्कर्षों के पीछे अनकही मान्यता मौजूद थी। वह यह कि इंसानी बुद्धिमत्ता उसके दिमागी द्रव्य की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। और यह कि यह बुद्धित्ता इंसान के श्रेष्ठ या निकृष्ट होने को तय करती है। 'नस्ल' की धारणा में यह एक प्रमुख निर्धारक तत्व था। यह एक ऐसी मान्यता थी और है जो बहु प्रचलित है पर जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। हां, इसका सामाजिक आधार जरूर है। स्टीफन गोल्ड ने दिखाया कि यदि,मोर्टन के आंकड़ों में दिमागी द्रव्य और शारीरिक द्रव्य के अनुपात पर बात करें तथा औसत पर ज्यादा बारीकी से ध्यान दें तो 'नस्लों' और लिंग में भेद खत्म हो जाता है। यही नहीं, नीग्रो वाले नमूने ज्यादा बेहतर प्रदर्शन करते थे। मजेदार बात यह रही कि जब कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के मरणोपरांत उनके दिमागी द्रव्य की जांच की गई तो कुछ बेहद परेशानी वाले तथ्य सामने आये। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध फ्रांसीसी जीव वैज्ञानिक कुविये, जिनकी बुद्धिमता को लेकर किसी को कोई शक नहीं था, का दिमाग औसत से कम आकार का पाया गया।

दूसरा उदाहरण बुद्धिमत्ता के I Q (इंटेलिजेन्स कुशेन्ट) से संबंधित है। आज आम व्यक्ति भी I Q से परिचित है। आये दिन लोकप्रिय अखबारों में इससे संबंधित विस्मयकारी खबरें छपती रहती हैं : 'ग्यारह वर्ष के बच्चे की I Q आइंस्टीन से भी ज्यादा' किस्म की खबरें। आज I Q बुद्धिमता का एक वस्तुगत मापदंड माना जाता है। बुद्धिमत्ता का मापन मोर्टन के जमाने की संरचना मापन से अब प्रकार्य मापन तक आ गया है।

मजे की बात यह है कि I Q टेस्ट की शुरुआत किसी निरपेक्ष बुद्धिमत्ता के मापन के लिए नहीं हुई थी। इसका उद्देश्य बिलकुल ही दूसरा था। उन्नीसवीं सदी के अंत में फ्रांसीसी सरकार ने अल्फ्रेड बिनेट नामक एक मनोवैज्ञानिक को यह कार्यभार सौंपा के

वे सरकारी स्कूलों में पिछड़ जा रहे छात्रों की बेहतरी के लिए कोई टेस्ट विकसित करें और व्यावहारिक उपाय बतायें। अल्फ्रेड बिनेट ने जो टेस्ट विकसित किया उसका सीमित निश्चित उद्देश्य यह जानना था कि कुछ बच्चे पढ़ाई में क्यों पिछड़ जाते हैं। उसका उद्देश्य आम बुद्धिमत्ता को नापना तो बिलकुल भी नहीं था।

लेकिन कुछ समय बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों ने इसे ले लिया और उसे बिलकुल ही दूसरा रूप दे दिया। अब यह 'बिनेट-सिमन' टेस्ट हो गया। और इसका उद्देश्य हो गया आम बुद्धिमत्ता को नापना। शीघ्र ही यह एच एच गादर्द और एल एम टर्मन जैसे लोगों के प्रयास से समाज में काफी लोकप्रिय हो गया। यहां तक कि वह सेना में भी इस्तेमाल होने लगा। तब से इसकी लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी है। हालांकि आज यह आधिकारिक तौर पर सीधे इस्तेमाल भले न होता हो पर आम जनमानस में गहरे बैठ गया है। आज सरकारी व निजी क्षेत्र दोनों की नौकरियों में प्रवेश के लिए होने वाली परीक्षाओं में 'तार्किक क्षमता' की जांच अनिवार्य हिस्सा सा बन गई है। यह और कुछ नहीं, IQ टेस्ट का ही बदला हुआ रूप है।

यहां हम IQ टेस्ट या 'तार्किक क्षमता' जांचने वाले परीक्षणों की बनावट में नहीं जायेंगे कि वे किस तरह वर्गीय पूर्वाग्रहों को समेटते हैं या क्षमता विकास में वर्गीय पृष्ठभूमि की अहं भूमिका को नजरअंदाज करते हैं। असल सवाल तो बुद्धिमत्ता की किसी निरपेक्ष धारणा पर ही है। क्या कोई निरपेक्ष बुद्धिमत्ता होती है? क्या कोई आम बुद्धिमत्ता (General Inteligence) होती है? क्या इसके आधार पर इंसानों का कोई श्रेणीकरण बनाया जा सकता है? क्या किसी को निरपेक्ष तौर पर ज्यादा बुद्धिमान और किसी को कम बुद्धिमान कहा जा सकता है? क्या बुद्धिमत्ता की क्षमता पैदाइशी होती है? क्या यह आनुवंशिक है? इन सब सवालों का वास्तविक वैज्ञानिक उत्तर न है। पर बुर्जुआ समाज के पूर्वाग्रह हैं कि स्वयं जीव वैज्ञानिक भी इस नकारात्मक उत्तर को नजरअंदाज करते रहते हैं।

तीसरा उदाहरण आनुवंशिकी से संबंधित है। यह बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का है। आनुवंशिकी के विकसित हो जाने के बाद इंसानों के मामले में जीनोटाइप और फीनोटाइप के संबंध को समझने की कोशिशें हुईं। अब इंसानों पर तो प्रयोग किये नहीं जा सकते थे। ऐसे में प्राकृतिक और सामाजिक तौर पर स्वतः हो जाने वाली घटनाओं के अध्ययन का भारी महत्व था। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रयास हुए। इनमें से ही एक था जुड़वा बच्चों का अध्ययन।

जुड़वा बच्चे दो तरह के होते हैं। एक में स्त्री के शरीर में एक साथ दो अण्डाणुओं के विकसित हो जाने के कारण दोनों के निषेचन से पैदा होने वाले जुड़वा बच्चे होते हैं। ये अपनी बनावट में किन्हीं भी दो सहोदर बच्चों की तरह होते हैं-ये भाई-भाई हो सकते हैं, भाई-बहन भी या फिर बहन-बहन भी। बस चूंकि ये एक साथ पैदा होते हैं इसलिए उनके विकास की गर्भीय, पारिवारिक और सामाजिक स्थितियां ज्यादा समान होती हैं। दूसरी तरह के जुड़वा बच्चे एक ही निषेचित अण्डाणु के बाद में भ्रूण विकास के पहले दो हिस्सों में विभाजित होकर अलग-अलग विकसित होने से पैदा होते हैं। ये अपनी जीन संरचना में बिलकुल समान होते हैं। इनकी शक्ल-सूरत भी एक समान होती है। इन्हें समरूप जुड़वा कहते हैं। इंसानों में जीनोटाइप-फीनोटाइप के संबंध को समझने के लिए इन दोनों तरह के जुड़वा का, खासकर समरूप जुड़वा का अध्ययन किया गया है। इनमें भी उन जुड़वा का अध्ययन ज्यादा महत्वपूर्ण था जो भिन्न-भिन्न परिवारों द्वारा पाले गये।

किरील बर्ट एक ऐसे ही मनोवैज्ञानिक व आनुवंशिकविद अध्ययनकर्ता थे जिन्होंने समरूप जुड़वा का अध्ययन किया। 1930 के दशक से शुरू कर 1960 के दशक तक उनके जुड़वा नमूनों की संख्या बढ़ती गई। उनके अध्ययनों ने दिखाया कि दो भिन्न-भिन्न परिवारों और परिवेशों में पले-बढ़े समरूप जुड़वा में भी सामान्य प्रतिक्रिया (खुश होना, दुखी होना, गुस्सा होना इत्यादि) से लेकर राजनीतिक दृष्टिकोण में भारी समानता होती है। जेनेटिक समानता के साथ इन विशेषताओं का सह संबंध बहुत ऊंचे स्तर का है। बर्ट का यह निष्कर्ष आनुवंशिकी के प्रभाव में बुर्जुआ समाज में प्रचलित इस सामान्य धारणा से सुसंगत था कि इंसान न केवल जैविक तौर पर बल्कि सामाजिक राजनीतिक तौर पर भी अपनी पैदाइश (जीन) से निर्धारित होता है।

लेकिन 1970 के दशक में बर्ट के आंकड़ों को थोड़ा सावधानी के साथ देखने पर लोगों को पता चला कि वे अपने निष्कर्षों में अद्भुत निरंतरता रखते हैं। समय के साथ उनके नमूनों की संख्या बढ़ती चली गई पर जीनोटाइप और फीनोटाइप के बीच सह संबंध-दशमलव के तीसरे स्थान तक भी वही बना रहा। थोड़ा और जांच-पड़ताल करने पर पता चला कि बर्ट द्वारा जुटाये गये नमूनों का कोई तथ्यपरक वर्णन मौजूद नहीं था। हद तो तब हो गई जब पता चला कि उनके जिन दो सहायकों ने नमूने जुटाये थे (यानी जुड़वा से बातचीत की थी) वे कभी अस्तित्वमान ही नहीं रहे। यानी आंकड़े फर्जी थे, कम से कम बाद वाले जब नमूनों की संख्या बहुत बढ़ गई थी (थोड़े से नमूनों को कोई भी गैर प्रातिनिधिक कह कर खारिज कर सकता है)।

और किरील बर्ट इंग्लैण्ड के बहुत सम्मानित मनोवैज्ञानिक व आनुवंशिकविद थे। उनकी पत्रिका इस क्षेत्र की जानी-मानी स्थापित पत्रिका थी। वे 'सर' की उपाधि से विभूषित थे। आज भी बुर्जुआ दायरे के बहुत सारे लोग किरील बर्ट की प्रतिष्ठा को वापस लाने के लिए जी-जान लगाये रहते हैं, उसी तरह जैसे मोर्टन की। और शायद ये ही लोग लीसेंको के बारे में कुछ भी न सुनना चाहें।

ऊपर के थोड़े से उदाहरण ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि पूंजीवादी समाज में विज्ञान और वैज्ञानिक किस कदर अपने समाज में सक्रिय शक्तियों और विचारों से प्रभावित होते रहे हैं। किस तरह समाज में व्याप्त पूर्वाग्रह उनके सिद्धान्तों को ही नहीं प्रयोगों को भी प्रभावित करते रहे हैं। विज्ञान के किस क्षेत्र में, किस पद्धति से और किस सोच के साथ प्रयोग होंगे यह भी समाज की शक्तियों से गहराई से प्रभावित होता है। कौन से सवाल पूछे जायेंगे, कौन से नहीं तथा किन तथ्यों पर ध्यान दिया जायेगा किन पर नहीं यह भी प्रभावित होता रहा है। परिणाम स्वरूप विज्ञान के सिद्धान्त व उसका विकास इनसे गहन रूप से प्रभावित होते रहे हैं। आज जब विज्ञान अलग-थलग वैज्ञानिकों का कार्य नहीं बल्कि संस्थागत काम बन गया है तो यह और भी ज्यादा होने लगा है।

आनुवंशिकी की ही बात करें तो उसके प्रयोग व सिद्धान्त कभी भी समाज निरपेक्ष नहीं थे। सभी प्रकृति विज्ञानों में जीव विज्ञान सबसे ज्यादा समाज की शक्तियों से प्रभावित था। यह याद रखना होगा कि लीसेंको जैसा 'प्रकरण' केवल जीव विज्ञान के क्षेत्र में हुआ। शीत युद्ध के दौर में, सोवियत संघ में लीसेंको के अवसान तक आनुवंशिकी खास तरह के शीत युद्ध की शिकार रही। 'जीव विज्ञान में शीत युद्ध' जैसे शीर्षकों से किताबें लिखीं गईं। एल सी दुन और राल्फ स्पाइट्जर का पहले जिक्र किया जा चुका है जिन्हें अमेरिका में केवल इस बात के लिए प्रताड़ना झेलनी पड़ी कि वे यह मांग कर रहे थे कि लीसेंको को गाली देकर खारिज करने के बदले उनके दावों की जांच-परख होनी चाहिए। विज्ञान की निष्पक्षता और निरपेक्षता का दावा करने वाली पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया में उस वैज्ञानिक का कोई भविष्य नहीं था जो 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' पर शोध करना चाहता था। कोई भी ऐसी बात जो लीसेंको के प्रति जरा भी नरमी दर्शाती हो, वह किसी वैज्ञानिक का कैरियर खत्म करने के लिए पर्याप्त थी। केवल अब जाकर ही, जब शीत युद्ध की कड़वाहट अतीत की चीज बन गई है, हिचकते-शरमाते यह सवाल उठाने की संभावना पैदा हुई है कि क्या आखिरकार लीसेंको सही थे? यह तब जब आनुवंशिकी की नयी शाखा -एपिजेनेटिक्स सीधा उस दिशा में संकेत कर रही हो।

लोरेन ग्राहम का पहले जिक्र किया जा चुका है। वे पांच दशक से सोवियत विज्ञान के इतिहास पर लिखते रहे हैं। अब जब चुपके-चुपके यह सवाल उठने लगा है कि क्या लीसेंको सही थे और ऐसा मानने वालों की संख्या रूस में अधिकाधिक बढ़ने लगी है तो ग्राहम ने हाल में (2016) इसी सवाल को संबोधित एक किताब लिखी- 'लीसेंको का भूत'। इस सवाल ने ग्राहम को इतना उद्वेलित किया कि उन्होंने एक इतिहासकार के अपने स्वघोषित सिद्धान्त (निष्पक्षता का दावा) को छोड़कर तय किया कि वे किताब में यह बतायेंगे कि क्या सही है और क्या गलत। उन्होंने साबित करने का प्रयास किया कि ऐपिजेनेटिक्स का लीसेंको के सिद्धान्तों से कोई लेना-देना नहीं है। उन्होंने इसे झुठलाने में काफी कसरत की कि दोनों ही इस सवाल से जूझते हैं : 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' के सवाल से। किताब में उन्होंने उन रूसी वैज्ञानिकों की लानत-मलानत की जो लीसेंको को सही बता रहे हैं। उन्होंने साबित करने का प्रयास किया कि रूस में लीसेंको की बढ़ती लोकप्रियता आज रूस की कठिन स्थितियों में सोवियत संघ और उसके नेताओं (स्टालिन समेत) के प्रति 'नोस्टाल्जिया' का परिणाम है। लोरेन ग्राहम जैसे लोग लीसेंको के भूत को भगाने के लिए चाहे जितनी कोशिश करें पर जब भी आनुवंशिकी की चर्चा होगी (जो 'अर्जित लक्षणों की वंशागति' की चर्चा के बिना संभव नहीं है) लीसेंको का भूत आ खड़ा होगा। इन भूतों के प्रकट होते ही बुर्जुआ वैज्ञानिकों और विचारकों की कंपकंपी छूटने लगती है।

उन्नीसवीं सदी से बुर्जुआ समाज एक खास तरह के जैव नियतत्ववाद का शिकार रहा है जो बीसवीं सदी में जीन नियतत्ववाद तक विकसित हो गया। जैव नियतत्ववाद या जीव विज्ञानी नियतत्ववाद ने डार्विन के बाद उन्नीसवीं सदी में सामाजिक डार्विनवाद का रूप लिया तो बीसवीं सदी में आनुवंशिकी के स्थापित हो जाने के बाद 'सामाजिक-जीव विज्ञान' (सोसियोबायोलाजी) का। दोनों का सारतत्व एक ही है।

जैव नियतत्ववाद एक खास मानवीय चरित्र की बात करता है। वह कहता है कि सभी अन्य जीवों की तरह मानव का भी एक निश्चित चरित्र है। यह प्राकृतिक है क्योंकि इंसान भी प्रकृति की पैदाइश है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इंसान शुरू से ऐसा ही रहा है और आगे भी ऐसा ही रहेगा। जब इंसान के इस प्राकृतिक चरित्र का थोड़ा विस्तार से वर्णन किया जाता है तो पता चलता है कि यह असल में बुर्जुआ मानव का वर्णन है (यह वर्णन भी पिछले डेढ़ सौ सालों में बुर्जुआ समाज के विकास के साथ कुछ बदलता गया है मसलन अब 'नस्ली' और लैंगिक गैर-बराबरी की बात नहीं होती)। जैव नियतत्ववादी इस तथ्य से शरमाते नहीं। बल्कि वे इसे जायज ठहराते हैं। वे कहते हैं कि बुर्जुआ व्यवस्था ही एकमात्र प्राकृतिक व्यवस्था है। अब जब एक बार मानव ने अपने प्राकृतिक चरित्र के अनुरूप, अपनी प्रकृति के अनुरूप व्यवस्था हासिल कर ली है तो वह उसी में जियेगा। यदि यह व्यवस्था किन्हीं मामलों में खराब है तो उसका कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि यही मानवीय प्रकृति है। यह देख लेना कोई मुश्किल काम नहीं है कि इस तर्क पद्धति में पहले बुर्जुआ समाज के खास चरित्र के अनुसार मानव के आम चरित्र की घोषणा की गई (मानव चरित्र को बुर्जुआ मानव का प्रतिरूप बताकर) और फिर इस आम मानवीय प्रकृति का इस्तेमाल कर बुर्जुआ समाज को प्राकृतिक व्यवस्था घोषित कर दिया गया। इस तरह की चक्रीय तर्क पद्धति से कुछ भी प्रमाणित किया जा सकता है।

आनुवंशिकी की उत्पत्ति और विकास के साथ यह जैव नियतत्ववाद और आगे गया। कहा गया कि सभी जीवों की तरह इंसान भी अपने जीन की पैदाइश है। जीन ही उसके चरित्र को तय करते हैं : उसके आम और खास चरित्र दोनों को। यहां तक कि संस्कृति भी जीन की पैदाइश है क्योंकि संस्कृति के तत्वों (गुस्सा, प्यार, पसंदगी-नापंसदगी, सेक्स इत्यादि) का भी निर्धारण जीन ही करते हैं। और चूंकि जीन में बाहर से परिवर्तन नहीं किया जा सकता इसलिए इंसान में भी कोई बदलाव नहीं हो सकता। आये दिन लोकप्रिय अखबारों में गुस्से के जीन की, अपराध के जीन की या समलैंगिकता के जीन की चर्चा होती रहती है। यह अजबोगरीब है पर समलैंगिकों के अधिकारों के कई समर्थक इसी आधार पर उनके अधिकारों की मांग करते हैं कि यह पैदाइशी है और उसका जेनेटिक आधार है। 'इसका ईलाज नहीं किया जा सकता'।

जीन आधारित यह सामाजिक जीव विज्ञान किस हद तक जा सकता है उसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि दो शख्सों ने एक किताब (रैन्डी थार्नहिल व क्रैग पामर की ए नेचुरल हिस्ट्री आव रेप) इस बात पर लिख मारी की पुरुषों में बलात्कार की प्रवृत्ति क्यों जेनेटिक है और उसने मानव के विकास में क्या भूमिका निभाई है। यह डार्विन के लैंगिक वरण का, जिसे कहते हैं, ब्रैन्ड न्यू संस्करण है। यह किताब काफी लोकप्रिय हुई हालांकि इसने सामाजिक जीव विज्ञान को शरीफ लोगों की नजरों में गिराने में भूमिका भी निभाई।

जीन नियतत्ववादियों ने मानव की संस्कृति की भी जीन की तर्ज पर व्याख्या करने की कोशिश की है। कठोर जीन नियतत्ववादी और 'स्वार्थी जीन' (सेल्फिश जीन) के लेखक रिचर्ड डाकिन्स ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई है। उन्होंने ही जीन की तर्ज पर सांस्कृतिक विकास के लिए 'मीम' (MEME) का आविष्कार किया। यह हर किसी का पता है कि मानव की संस्कृति का विकास हुआ है। मानव प्रजाति की उत्पत्ति के समय उसकी संस्कृति वह नहीं थी जो वह आज है। (जीव वैज्ञानिकों में इसकी अस्पष्ट सी स्वीकृति है कि मानव प्रजाति की उत्पत्ति में भी संस्कृति की भूमिका रही है पर यह बात प्रसंगवश ही रह जाती है) जीन नियतत्ववादी मानव संस्कृति के विकास की व्याख्या में कहते हैं कि ठीक जीन की तरह मीम संस्कृति की इकाई है। जीन की तरह मीम का भी आपसी संघर्ष होता है और सर्वोत्तम का वरण होता है। क्रमशः वरण के जरिये नयी संस्कृति अस्तित्व में आ जाती है। उदाहरण के लिए धर्म के मामले में कई धार्मिक विश्वासों के मीम आपस में टकराते हैं और जिसे ज्यादा लोग पसंद करते हैं वह विश्वास बाकियों को पछाड़ कर स्थापित हो जाता है। कोई नया धार्मिक विश्वास जब सामने आता है तो उसका मीम पुराने विश्वास के मीम से टकराता है। एक बार फिर सर्वोत्तम का वरण होता है। स्पष्ट है कि मीम द्वारा मानव संस्कृति के विकास की इस व्याख्या में वर्ग संघर्ष, युद्ध इत्यादि की कोई भूमिका नहीं है। आम तौर पर बात करें तो पद्धति के तौर पर यह जीन नियतत्ववाद मानव संस्कृति के विकास को नव-डार्विनवादी ('आधुनिक संश्लेषण') तरीके से देखता है जबकि वास्तव में यह संस्कृति लामार्कवादी तरीके से विकसित हुई है।

इंसान को देखने का जीन नियतत्ववादी या जीव विज्ञानी नियतत्ववादी तरीका गलत है। इससे इंसान की जो तस्वीर बनती है वह गलत है। यह सही है कि इंसान का एक जैविक या जीनीय आधार है। यदि ऐसा नहीं होता तो इंसान का बच्चा इंसान नहीं विकसित होता। पर इसी के साथ यह भी सच है कि किसी अन्य जीव के मुकाबले इंसान इस रूप में गुणात्मक तौर पर भिन्न होता है कि वह साथ ही अपने समाज और संस्कृति (व्यापक अर्थों में) की भी पैदाइश होता है। यहां तक कि मानव समाज से परे उसका जैविक विकास भी बहुत बुरी तरह से विकृत हो जाता है। वह एक सामान्य इंसान के रूप में विकसित नहीं हो सकता। स्वयं मानव प्रजाति के विकास में उसकी संस्कृति ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी (श्रम और उत्पादन जिसका आधार था)। यह इस कदर थी कि यह उसकी प्रजाति में आंतरीकृत हो गई है। भाषा इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। मानव संस्कृति बदलती रही है ओर आगे भी बदलेगी। इसी के अनुरूप मानव भी। जीनीय और जैविक तौर पर वही रहते हुए भी इंसान बदलता रहा है और बदलता रहेगा क्योंकि उसकी संस्कृति बदलती रही है। सही मायने यही असली 'मानवीय प्रकृति' है।

जैव नियतत्ववाद और जीन नियतत्ववाद जीव विज्ञान द्वारा प्रोत्साहित किये जाते हैं और वे पलटकर जीव विज्ञान के सिद्धान्तों को इन्हीं के अनुरूप ढालते हैं। वे एक दूसरे को मजबूत करने का साधन बन जाते हैं।

जैव नियतत्ववाद और जीन नियतत्ववाद का सामाजिक व वैचारिक आधार दोनों हैं बहुत पहले सत्रहवीं सदी के मध्य में ही थामस हाब्स ने घोषित किया था कि इंसान की प्राकृतिक अवस्था वह है जिसमें हर इंसान दूसरे के खिलाफ संहारक युद्ध लड़ रहा होता है। राज्य सत्ता इस स्थिति को खत्म कर इंसानों को समाज में संगठित करती है। इंसान की प्राकृतिक अवस्था की यह धारणा नये उभरते हुए बुर्जुआ समाज में बुर्जुआ मानव के आपसी संघर्ष से पैदा हो रही थी। श्रेणीबद्ध सामंती समाज में यह धारणा नहीं पैदा हो सकती थी। तब श्रेणियों के बीच संघर्ष तो था पर श्रेणी के भीतर के व्यक्तियों के बीच बेलगाम संघर्ष नहीं था। सबका सबसे संघर्ष की इस हाब्सीय धारणा में बुर्जुआ मानव का परमाणवीकृत होना निहित था। बुर्जुआ समाज के विकास के साथ पूरे बुर्जुआ समाज का यह परमाणवीकरण बढ़ता गया और सबका सबसे संघर्ष भी। इसके साथ इसकी चेतना भी आम होती गई। समाज का सदस्य होने के चलते वैज्ञानिकों को भी इस धारणा से प्रभावित होना ही था। डार्विन यदि माल्थस के लेख से न भी परिचित होते तो भी वे 'अस्तित्व के संघर्ष' और 'सर्वोत्तम का वरण' की धारणा पर पहुंच जाते, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं कि वे पहुंच रहे थे।

दार्शनिक स्तर पर बात करें तो देकार्त से शुरू करके बुर्जुआ समाज के अनुरूप विश्व की व्याख्या का एक खास रूप विकसित होता गया था। यह वस्तु को उसके अंशों में बांटकर उनके हिसाब से उसकी व्याख्या करता था। यह यंत्रवादी या यांत्रिक था। इसमें कार्य और कारण अलग-अलग थे और उनका वहीं संबंध था-कारण के द्वारा कार्य। न केवल यह पद्धति बुर्जुआ समाज के अनुरूप थी बल्कि इससे सिद्धान्त व व्यवहार में सफलता भी पाई गई। औद्योगिक पूंजीवाद की सारी तकनीक इसी पर आधारित थी।

आम अमूर्त स्तर पर बुर्जुआ वैज्ञानिकों की यही विश्व दृष्टि होती है। हर मामले में अंतिम संरचनात्मक तत्व की खोज और उससे हर चीज की व्याख्या का प्रयास (अपचयनवाद) इसी दृष्टि का परिणाम है। उनकी यह यांत्रिक भौतिकवादी सोच जब अन्य मामलों में भाववाद तथा समाज में व्याप्त पूर्वाग्रहों व बुर्जुआ विचारों से सम्बद्ध हो जाती है तो उसका परिणाम विज्ञान के लिए सुखद नहीं होता। विज्ञान के विकास का रास्ता तब बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और विकृत हो जाता है। इसमें यदि एकाधिकारी बुर्जुआ वर्ग के कारपोरेट हितों तथा पूंजीवादी राज्य के हितों (आज सारे शोध संस्थान या तो सीधे इनके नियंत्रण में हैं या इनकी कृपा पर निर्भर हैं) को जोड़ दिया जाये तो तस्वीर मुकम्मल हो जाती है। बुर्जुआ वैज्ञानिक की निस्पृहता और वस्तुगत सत्य के प्रति उसके समर्पण का दावा तब केवल एक छलावा भर रह जाता है जिसमें हो सकता है वह खुद भी विश्वास करता हो। जैसा कि कहा गया है, नकारात्मक अर्थों में विचारधारा का मतलब ही है वह विचार प्रक्रिया जिसकी असली प्रेरक शक्तियों के प्रति विचारक सचेत नही होता। यदि विचारक असली प्रेरक शक्तियों के प्रति सचेत हो तो उसकी चिन्तन की प्रक्रिया वैज्ञानिक चिन्तन प्रक्रिया बन जाती है (जैसा कि मार्क्सवाद के साथ है) तथा उसकी विचारधारा वैज्ञानिक सत्यों का समुच्चय। इन अर्थों में बुर्जुआ वैज्ञानिक बुरी तरह से विचारधारात्मक व्यक्ति होते हैं भले ही वे किसी भी विचारधारा से मुक्त रहने की कितनी दुहाई देते हों। सच तो यह है कि उनके जितना विचारधारात्मक व्यक्ति कोई

नहीं होता क्योंकि उन्हें उस विचारधारा का भान भी नहीं होता जो उनके लिए हवा-पानी की तरह है। वे इसी विचारधारा की जमीन पर खड़े होकर विज्ञान और वैज्ञानिकों के विचारधारा से दूर रहने की आवश्यकता की बात करते रहते हैं।

समापन से पहले एक अंतिम उदाहरण पर बात करेंगे। बीसवीं सदी के शुरुआती तीन-चार दशकों में पैदा हुए और विकसित हुए भौतिकी के क्वांटम मेकेनिक्स तथा जीव विज्ञान की आनुवंशिकी में अद्‌भुत साम्य है। यह केवल समय का साम्य नहीं है। दोनों में अंतिम संरचनात्मक तत्व की खोज प्रमुख चीज थी। दोनों में ही जो अंतिम संरचनात्मक तत्व खोजे गये वे अदृश्य थे और केवल अपने परिणामों से ही पहचाने जाते थे दोनों में इन तत्वों का व्यवहार सांयोगिक और यादृच्छिक था लेकिन जिनसे दूसरे स्तर पर निश्चित परिणाम पैदा होते थे। दोनों ही सिद्धान्त सांख्यिकीय, गणितीय माडल थे। दोनों प्रायिकता (probability) का इस्तेमाल करते थे। दोनों की भाववादी व्याख्याएं की गईं और दोनों के द्वारा कार्य-कारण के निश्चित संबंध तथा नियतत्ववाद (determinism) पर हमला किया गया। दोनों के ही के खिलाफ प्रतिक्रिया हुई (क्वांटम मेकेनिक्स में आइंस्टीन वगैरह के द्वारा तथा आनुवंशिकी में लीसेंको वगैरह के द्वारा)। स्थापित हो जाने के बाद भी दोनों अनसुलझे सवालों से जूझ रहे हैं। दोनों का ही बुर्जुआ वर्ग के प्रतिक्रियावादी विचारों को सही ठहराने के लिए इस्तेमाल किया गया और दोनों में ही वैज्ञानिकों ने इसमें जाने-अनजाने मदद की।

इन दोनों विज्ञानों का एक ही समय में एक खास तरह से विकास केवल संयोग मात्र नहीं था। यदि बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध में बुर्जुआ समाज की वह स्थिति नहीं होती (जिसे सबसे तीखे ढंग से दो विश्व युद्ध व महामंदी अभिव्यक्त करते हैं) तो शायद इनका विकास दूसरी तरह से हुआ होता और शायद तब परिणाम भी दूसरा होता। यह याद रखना चाहिए कि एक बार 'पैराडाइम' निश्चित हो जाने के बाद उसे तोड़ कर दूसरा 'पैराडाइम' विकसित करना बहुत मुश्किल हो जाता है। 'सुपरस्ट्रिंग थियरी' और एपीजेनेटिक्स का इतिहास इसे अपने अपने ढंग से प्रदर्शित करते हैं: एक में एक अनुत्पादक अवधारणा से मुक्ति नहीं मिल पाती और दूसरे में एक सही अवधारणा को विकसित होने के लिए भारी बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

बुर्जुआ वैज्ञानिकों के दावों के विपरीत विचारधारा का विज्ञान में भारी महत्व है। नकारात्मक अर्थ में इस तरह कि वैज्ञानिक स्वयं अपने समाज में व्याप्त शासक विचारधारा (जो कि शासक वर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा होती है) के चरित्र और प्रभाव के प्रति जब तक सचेत नहीं होते तब तक वे इससे मुक्त नहीं हो सकते। केवल यह कहकर शासक विचारधारा के सर्वव्यापी प्रभाव से नहीं मुक्त हुआ जा सकता कि किसी विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं है। यह शुतुरमुर्गी व्यवहार से भी बुरा है क्योंकि यहां तो तूफान आंतरीकृत है।

सकारात्मक अर्थ में विज्ञान के लिए विचारधारा का इस रूप में महत्व है कि सही विचारधारात्मक व दार्शनिक जमीन पर खड़े होकर उन टेढ़े -मेढ़े रास्तों और विकृतियों से बचा जा सकता है जो इसके बिना अनिवार्य हैं। सही विचारधारा और दर्शन ठोस वैज्ञानिक शोध का कभी स्थान नहीं ले सकते पर वे इसकी दिशा को इंगित कर सकते हैं व गलत पहुंच से बचा सकते हैं। प्रकृति अपने आप में ही द्वन्द्वात्मक है इसलिए द्वन्द्ववाद की एक सटीक समझदारी न केवल प्रकृति की आम गति का संकेत देती है बल्कि यह भी संकेत करती है किन सवालों को पूछा जाये व उनके उत्तर ढूंढ़ने के लिए किस ओर बढ़ा जाये। किधर की ओर न बढ़ा जाये यह भी इंगित होता है।

पर वर्गीय समाज में, खासकर जब वर्ग-संघर्ष अत्यन्त तीखा हो और शासक बुर्जुआ वर्ग अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा हो तो स्वयं दर्शन व उसके सवाल भी विचारधारात्मक संघर्ष का हिस्सा बन जाते हैं। बीसवीं सदी में दर्शन के क्षेत्र में बुर्जुआ विचारों की प्रगति पर एक नजर डाल लेना ही इसका कायल होने के लिए पर्याप्त है कि कैसे यहां भी वही जंग लड़ी जा रही है-यानी बुर्जुआ समाज की रक्षा की जंग। जहां विज्ञान, दर्शन और विचारधारा सब इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उनके सामने गार्डियन नॉट भी अत्यन्त सरल दीखने लगती है।

ठीक इसी वजह से विचारधारात्मक संघर्ष और महत्वपूर्ण हो जाता है। जरूरी हो जाता है कि न केवल बुर्जुआ विचारधारा को गलत साबित किया जाये बल्कि उसके खास विचारधारात्मक चरित्र (नकारात्मक अर्थों में) को उजागर किया जाये। दिखाया जाये कि कैसे यह दर्शन के अमूर्त सूत्रीकरणों में व्याप्त है और कैसे फिर दोनों विज्ञान और वैज्ञानिकों को प्रभवित कर रहे हैं। द्वन्द्ववाद का नकार और इसके प्रति हिकारत या माखौल का भाव इसका एक ठोस उदाहरण है। जीव विज्ञान और आनुवंशिकी का इतिहास यह दिखाता है कि इसके क्या परिणाम निकल सकते हैं।

एंगेल्स ने कहा था कि विज्ञानों के विज्ञान के रूप में अब दर्शन की आवश्यकता नहीं रह गई है। दर्शन के तमाम सवाल अब विज्ञान (प्राकृतिक व सामाजिक दोनों) के सवाल बन गये हैं। दर्शन के लिए जो क्षेत्र बच जाता है वह है द्वन्द्ववाद और तर्कशास्त्र।

दर्शन के इतिहास में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, संरचना और प्रकृति एक प्रमुख विषय रहा है। इसी तरह जीव की उत्पत्ति, संरचना और प्रकृति भी (खासकर मनुष्य के संदर्भ में)। अब ये दोनों क्रमशः भौतिकी और जीव विज्ञान के विषय बन गये हैं। इन दोनों क्षेत्रों में कार्यरत वैज्ञानिक इनमें दार्शनिकों के दखल को पसन्द नहीं करते। 'भौतिकी! अधिभौतिकी से सावधान रहो' आह्वान को वैज्ञानिक कुछ ज्यादा ही गंभीरता से लेते हैं।

पर दर्शन व विज्ञान के संबंधों के मामले में आज स्थिति इतनी सरल नहीं है जितना बुर्जुआ वैज्ञानिक इसे समझते हैं। भौतिकी व जीव विज्ञान से एक-एक उदाहरण इसे स्पष्ट करेंगे।

आज भौतिकी में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के संबंध में 'बिग बैंग' का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे ब्रह्माण्ड की कभी उत्पत्ति हुई है और वह दिक्-काल दोनों में सीमित है। हालांकि चतुर्आयामी ब्रह्माण्ड का कोई ओर छोर नहीं है तब भी यह सीमित है। अनकहे ही बिग बैंग का सिद्धान्त ब्रह्माण्ड को असीम के बदले सीमित (दिक् और काल दोनों में) घोषित कर देता

है। इस संबंध में मतभेद को वह दार्शनिक अटकलबाजी कहकर हिकारत से ठुकरा देता है। पर ठुकरा देने मात्र से ब्रह्माण्ड के बारे में सीमित व असीमित की बहस को दरकिनार नहीं किया जा सकता और न ही इस सवाल को कि बिग बैंग से पहले क्या था। इसे क्वांटम मेकेनिक्स के नियमों के अनुसार अज्ञेय घोषित कर देने से भी काम नहीं चल सकता, खासकर तब जब आइंस्टीन के समय से इन नियमों के अधूरेपन पर सवाल बने हुए हैं। यह व्यापक सवाल तो है ही कि क्वांटम मेकेनिक्स के नियमों को ही अंतिम क्यों माना जाये? क्यों न माना जाये कि क्वांटम मेकेनिक्स के स्थिरांक (फ्लांक स्थिरांक इत्यादि) और भी सूक्ष्मतम स्तर से क्वांटम स्तर में परिवर्तन के 'नोडल प्वाइंट' हैं और उस स्तर पर नियमों की प्रकृति दूसरी है? ये ऐसे सवाल हैं दर्शन के इतिहास में हुई बहसों और द्वन्द्ववाद की गही समझदारी के अभाव में सही तरह से संबोधित नहीं किये जा सकते। आज यही हो रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है जीव विज्ञान में आज प्रगति और जटिलता पर सवाल हैं और आम तौर पर इन्हें नकार दिया जाता है। कहा जाता है कि जीवों के विकास में प्रगति और बढ़ती जटिलता की धारणा उन्नीसवीं सदी की खास सामाजिक वैचारिकी की उत्पत्ति थी। यह प्रकृति की सच्चाई नहीं है। लेकिन सच्चाई यह है कि स्वयं यह नकार बीसवीं सदी के खास वैचारिक हालात का परिणाम है। आज पतनशील बुर्जुआ वर्ग किसी प्रगति में विश्वास नहीं करता। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भीषण संकट ग्रस्त काल में बुर्जुआ समाज में मानवीय समाज की उत्तरोत्तर प्रगति पर सवाल खड़े हुए और अस्तित्ववाद से होते हुए इसने उत्तर आधुनिकतावाद में खास दार्शनिक स्वरूप ग्रहण किया। यहीं से जीव विज्ञान में भी प्रवेश कर गया।

यह सही है कि प्रगति व बढ़ती जटिलता की एकरैखिक धारणा धरती पर जीवन व उसके विकास की मुकम्मल तस्वीर पेश नहीं करती। पर इसके नकार से स्थिति बेहद खराब हो जाती है। इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि प्रगति व बढ़ती जटिलता के बिना जैव विकास की बात करना ही बेमानी है। इसके बिना जैव विकास का कोई मतलब नही है। यहां तक कि इसके बिना जीवन की उत्पत्ति की भी बात नहीं की जा सकती।

ये दोनों उदाहरण यह दिखाते हैं कि कैसे विज्ञान के सवाल भी दर्शन से प्रभावित हो जाते हैं। कैसे दर्शन के इतिहास की सही समझदारी न होना और प्रकृति की आम गति (द्वन्द्ववाद) की सटीक समझ का अभाव वैज्ञानिकों को शुद्ध वैज्ञानिक सवालों पर गलत तरीकों और निष्कर्षों तक पहुंचाता है।

यह कितना व्यापक है इसे वैज्ञानिक पद्धति के आम सिद्धान्त से भी समझा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी और आज तक वैज्ञानिक पद्धति में प्रत्यक्षवाद हावी रहा है। इसे सबसे अच्छे रूप में कार्ल पापर ने प्रस्तुत किया और आज वह सर्वव्यापी रूप में मान्य है। इसके अनुसार विज्ञान के सिद्धान्त और कुछ नहीं बल्कि गलत ठहराये जाने की संभावना से युक्त तदर्थ अवधारणाएं हैं। यदि कोई सिद्धान्त ऐसे नहीं हैं तो वह वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। इसीलिए, इसके अनुसार सामाजिक विज्ञान विज्ञान की श्रेणी में नहीं आते। यहां तक कि स्वयं जीव विज्ञान पर भी सवालिया निशान हैं कि यह विज्ञान है या नहीं।

वैज्ञानिक पद्धति का यह निरूपण एक दार्शनिक निरूपण है आज सारे बुर्जुआ वैज्ञानिक इसकी चपेट में हैं। यह निरूपण प्रकृति, सत्य और ज्ञान के बारे में एक खास धारणा को स्थापित करता है। इसे नजरअंदाज कर इसे एक निरपेक्ष और सही वैज्ञानिक पद्धति मान लेना आज विज्ञान और वैज्ञानिकों की खास स्थिति को दर्शाता है।

ऐसे में यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान सही तरह से विकास कर सके इसके लिए जरूरी है स्वयं वैज्ञानिक सही दार्शनिक जमीन पर खड़े हों। वे दर्शन के इतिहास से गहराई से परिचित हों। प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति की उनकी समझदारी स्पष्ट हो। और आज के पतित पूंजीवाद के दौर में व्यापक दार्शनिक बहस और विचारधारात्मक संघर्ष के बिना यह नहीं हो सकता।

■■■